प्राचीन भारतीय
विचार और विभूतियाँ

प्राचीन भारतीय

विचार और विभूतियाँ

डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
भूतपूर्व प्रोफेसर लखनऊ विश्वविद्यालय
संसद सदस्य

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

स्वर्गीय पिता

गोपालचन्द्र मुकर्जी एम० ए०, बी० एल०

वकील हाईकोर्ट बरहामपुर, बंगाल

की पुण्य स्मृति में,

जिनकी विद्वत्ता और इतिहास विषयक रुचि से मुझे सर्वदा

प्रेरणा मिलती रही।

(१८४५—१८९४)

प्रथम संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की एक झाँकी उसके अपने कुछ सर्वोत्तम प्रतिनिधियों की जीवनियों के अध्ययन के माध्यम से देने का प्रयत्न किया गया है। इतिहास को प्रस्तुत करने की इस प्रणाली के कुछ विशेष लाभ हैं। यह प्रणाली भारतीय विचारधारा के किंचित् अस्पष्ट और सूक्ष्म दिखाई पड़ने वाले आदर्शों को यथार्थ और मूर्त रूप प्रदान करती है। वैसे भी इन आदर्शों को उन व्यक्तियों के जीवन में भली प्रकार देखा और समझा जा सकता है जिन्होंने न केवल इन आदर्शों की अनुभूति और अभिव्यक्ति ही की थी बल्कि जिनके व्यक्तिगत जीवनों से ही ये आदर्श उपजे थे। विश्व का इतिहास इसके प्रतिनिधि पुरुषों की जीवन-कथाओं के रूप में अध्ययन किया जा सकता है। जिस इतिहास को इन्होंने जन्म दिया उसके ये मूर्त रूप हैं।

इस पुस्तक में जिन चरित्रों का वर्णन किया गया है वे हिन्दू भारत के इतिहास का बहुत भली प्रकार प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें से प्रत्येक चरित्र भारतीय विचारधारा और जीवन के एक पहलू को प्रस्तुत करता है। याज्ञवल्क्य वैदिक विचारधारा का अपने ढंग का अनोखा और बहुत ही ऐतिहासिक उदाहरण है। वह भारतीय विचारधारा की सम्पूर्ण सारिणी का स्रोत और सम्भवतः सबसे विशिष्ट व्यक्ति है। उस महान् बौद्धिक युग के असाधारण व्यक्तित्व के रूप में, जिसने मानवता को अपने श्रेष्ठ साहित्य की कुछ निधि प्रदान की, और उपनिषदों के कल्याणकारी ज्ञान के मुख्य प्रवक्ता के रूप में, याज्ञवल्क्य को हिन्दू दर्शन का जनक माना जाता है। याज्ञवल्क्य के बाद दूसरा चरित्र बुद्ध

का दिया गया है। बुद्ध राजघराने में जन्मे थे और मनुष्यों में श्रेष्ठ थे। वे उच्चतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए वनों की निर्जनता में रहे जहाँ कि आरण्यक और उपनिषदों का ज्ञान उद्भूत हुआ था और जहाँ उन्होंने सत्य और प्रेम का एक संसार पाया था। इन्होंने न केवल भारतीय विचारधारा के अपूर्ण वृत्त को प्रायः पूरा ही किया बल्कि मानवता के एक बड़े भाग तक इस विचारधारा का विस्तार किया। वास्तव में, ब्राह्मणवाद और बुद्धवाद भारतीय विचारधारा के दो ध्रुव हैं जिनके बीच भारतीय विचारधारा युग-युगों से घूमती रही है, यद्यपि ये दोनों वाद विषय-वस्तु की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं। बुद्ध को हिन्दू अवतारों में स्थान देकर लोकमत ने एक स्वस्थ दार्शनिक बुद्धि का परिचय दिया है।

अशोक का चरित्र राजा और सांसारिक व्यक्ति के रूप में अपूर्व उदाहरण है। अशोक संसार का सबसे बड़ा आदर्शवादी था जो अपने साम्राज्य को न्याय के सिद्धान्त पर न कि शक्ति के सिद्धान्त पर स्थापित करने के लिए साहस के साथ बढ़ा था। अशोक संसार का पहला और शायद एकमात्र व्यक्ति था जिसने घोषणा की कि युद्ध पाप है, और जिसे नैतिक विजय और विधान की शक्ति न कि शक्ति के विधि-विधान में विश्वास था। बौद्ध धर्म के सैनिक अपने राज्यों के सीमान्तों पर स्थित देशों और उनसे पूरे यूरोप और अफ्रीका के भागों में गये और उन्होंने शांति और समाज-सेवा के संदेश का प्रचार किया। अशोक के राज्य में एक मन्त्रालय था जो आदिवासियों और पिछड़े हुए लोगों की देखभाल करता था। ये लोग राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र थे। सम्राट् उनका न्यासधारी और अभिभावक था। कुछ निश्चित मान्य आदर्शों और सद्गुणों के आधार पर, जो कि सब सम्प्रदायों को स्वीकार थे, यहाँ तक कि समूची मानवता को स्वीकार थे, उसने सैनिक व्यय से बचाया हुआ अपना धन जनता के नैतिक विकास पर व्यय किया। इस प्रकार उसका साम्राज्य भारतीय विचारधारा का उच्चतम,

व्याकृतम और समन्वय का बहिःस्वरूप प्रस्तुत करता है। इससे यह देखा जा सकता है कि अगर संसार को भारत के हाथों में सौंप दिया जाय तो भारत संसार का किस रूप में निर्माण करेगा। लेकिन, दुर्भाग्य-वश, अशोक अपने युग और यहाँ तक कि अपने बाद की पीढ़ियों से भी बहुत आगे था। सार्वजनिक शान्ति की बुनियाद पर स्थापित आदर्श साम्राज्य ऐतिहासिक शक्तियों के आघातों को नहीं सह सका। मनुष्य का उत्थान सदैव अंधकारपूर्ण और रक्तपूर्ण संघर्ष की कहानी रहा।

उसके बाद समुद्रगुप्त, सामरिकता के भारतीय प्रतीक के रूप में सामने आता है जिसने केवल स्वतन्त्रता लाने के लिए ही विजय प्राप्त की थी। फिर भी एक क्षत्रिय राजा के इस परम्परागत आदर्श को मान कर कि एक राजा को अपने देश की सीमाओं तक अपनी सत्ता का विस्तार करना चाहिए ताकि देश एक सर्वोच्च सम्राट् के छत्र के नीचे राजनीतिक एकता प्राप्त कर सके, उसने साहस के साथ काम किया।

अन्त में हर्ष आता है जिसके व्यक्तित्व में समुद्रगुप्त और अशोक दोनों के कुछ गुण मिलते हैं। हर्ष युद्ध में महान् और शान्ति में महान-तर था और उसने महानता की कुछ ऐसी ऊँचाइयों को प्राप्त कर लिया था जिसकी समानता राजाओं के इतिहास में बहुत कम मिलती है। उसकी उदारता अपूर्व थी और उसने स्थानीय युद्धों के इतिहास में खोई हुई अथवा विदेशी हस्तक्षेप द्वारा अवरुद्ध इस देश के इतिहास की एकता को एक दीर्घ अन्तराल के पश्चात् पुनः प्राप्त करने के लिए देश की सहायता की थी।

इंडिया आफिस के विद्वान् लाइब्रेरियन डा० एफ० डब्ल्यू० थामस का मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने मेरे इस काम में काफी रुचि ली।

—राधाकुमुद मुकर्जी

दूसरे संस्करण की भूमिका

मैं सर्वश्री हिन्द किताब लिमिटेड, बम्बई का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की निरन्तर माँग को देखते हुए इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। साथ ही मैं सर्वश्री मैकमिलन एण्ड कम्पनी के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ कि जिन्होंने उक्त प्रकाशन संस्था को अपना कापी राइट सौंप दिया।

मुझे खेद है कि संसद में अपने काम के कारण मैं इस पुस्तक को दोहराने का आवश्यक समय नहीं निकाल पाया। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस पुस्तक को दोहराए जाने की बहुत आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह पुस्तक ऐसी सामग्री पर निर्भर है जो पुरानी और निश्चित-सी है और जिसमें साहित्यिक या पुरातत्व-शास्त्र की कई खोजों के कारण कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पहले संस्करण के बाद अशोक के कुछ नये शिलालेख प्राप्त हुए हैं, अतः इनके बारे में एक महत्त्वपूर्ण भाग जोड़ना आवश्यक था जो पुस्तक के अन्त में दिया गया है।

जनवरी, १९५७ —राधाकुमुद मुकर्जी

सूची

याज्ञवल्क्य

भारत के भूगोल को देखते हुए उसका इतिहास जैसा होना चाहिए था, उससे यह सर्वथा भिन्न है। उत्तर के पर्वत-प्रहरियों और दक्षिण की सागर-लहरियों ने भारत को बाकी संसार से स्पष्टतः पृथक् रखकर उसे एक निश्चित भौगोलिक इकाई का रूप दिया है। किन्तु फिर भी उसका पार्थिव पृथक्त्व उसके इतिहास पर विदेशी प्रभावों को नहीं रोक पाया है। वास्तव में मानव-इतिहास की प्रायः सभी प्रमुख विचार-धाराओं ने भारत को भी स्पर्श किया है और उसकी संस्कृति अथवा सभ्यता पर कुछ ऐसे अमिट चिह्न छोड़े हैं जिनके कारण एक अति मिश्रित एवं संवलित व्यवस्था बनकर रह गई है। फारसी, यूनानी, रोमन, सीथियन, यूह-ची, हूण, मुस्लिम और यूरोपीय सभी विचार-धाराओं ने भारतीय सभ्यता नामक इस विचित्र मिश्रण के निर्माण में विभिन्न तत्त्व प्रदान किये हैं; किन्तु इस सभ्यता का शिलाधार इण्डो-आर्यन ही है और यह आधार समस्त परिवर्तनों के दौरान में और इस सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओं में बना रहा है।

भारतीय सभ्यता की नींव लगभग २०००-१००० ई० पू० में पड़ी, जिस दौरान में यहाँ की भरत नामक एक जाति के नाम पर भारतवर्ष कहलाने वाले इस महाद्वीप को बसाने तथा सभ्य बनाने का काम आर्यों द्वारा आरम्भ और प्रायः समाप्त किया जा चुका था। भारतीय सभ्यता के इस प्राथमिक और निर्माणकालीन युग का प्रतीक भारतीय आर्यों की विभिन्न संस्थाएँ तथा उनका साहित्य है और इस युग को दूसरे युगों

से अलग करने के उद्देश्य से वैदिक सभ्यता का नाम दिया गया है, क्योंकि वैदिक साहित्य के विशाल पुञ्ज में, जिसमें मुख्यतः संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् नामक तीन प्रकार की कृतियाँ हैं, इस सभ्यता की उत्पत्ति का स्रोत मिलता है।

वैदिक सभ्यता अनेक ऋषियों व राजाओं की देन थी, जो इस सभ्यता के विचार व जीवन-सम्बन्धी लाक्षणिक आदर्शों के साकार रूप थे। किन्तु दुर्भाग्यवश हम केवल उनके नाम ही जानते हैं और वे प्रायः ऐसी पौराणिक विभूतियों के समान हैं जिनके विषय में उपलब्ध सामग्री से न तो हमें ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं और न उनकी जीवनियों का वर्णन ही मिल पाता है। वैदिक काल का धार्मिक इतिहास अत्रि, अंगिरस, प्रियमेधा, भृगु, वसिष्ठ और विश्वामित्र-जैसे द्रष्टाओं अथवा ऋषियों की अनेक पीढ़ियों से सम्बन्धित है, जो ऋग्वेद के मन्त्रों के अलग-अलग समूहों का सृजन करके उन्हें अपनी सन्तान को सौंपते आए और वह साहित्य इस प्रकार उन परिवारों की सम्पत्ति बन गया; जब कि उस युग के राजनीतिक इतिहास का प्रतिनिधित्व सुदास-जैसे राजाओं ने किया; जिसने द्रुह्यु, पुरु, अनु आदि दस राजाओं के उस शक्तिशाली संघ पर महान् विजय प्राप्त की जिसे मत्स्य, पक्थ, मलान आदि अनेक मित्र-जातियों का भी सहयोग प्राप्त था। किन्तु दुर्भाग्यवश प्राचीन वैदिक समाज में विचार तथा व्यवहार के क्षेत्रों के नेताओं के इन असंख्य नामों में से एक को भी, इसके जीवन व कार्य-सम्बन्धी ठोस प्रमाण तथा विवरण के अभाव में, ऐतिहासिक यथार्थता प्रदान नहीं की जा सकती, अतः वे हमारे लिए केवल अमूर्त्त नाम ही बने रहेंगे।

किन्तु, फिर भी कम-से-कम एक वैदिक पात्र ऐसा है जिसका अपेक्षया अधिक यथार्थ वृत्तान्त प्रस्तुत करना सम्भव है। याज्ञवल्क्य अपने युग के प्रतिनिधि थे, वैदिक संस्कृति और सभ्यता में जो-कुछ श्रेष्ठतम एवं उच्चतम था उसका वे मूर्तिमान प्रतीक थे। साथ ही वे उन अन्तिम वैदिक ऋषियों में से थे जो ब्राह्मणों और उपनिषदों के विस्तृत

साहित्य में व्यक्त वैदिक विचार व जीवन के उत्तरकालीन विकासों से सम्बन्धित थे। अतः याँज्ञवल्क्य के जीवन के आधार पर, जो कि अपने युग के माने हुए बौद्धिक और आध्यात्मिक नेता थे, वैदिक संस्कृति के सबसे विकसित एवं लाक्षणिक रूप का अध्ययन किया जा सकता है।

याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद का प्रथम प्रसिद्ध रचयिता है। उन्होंने 'शतपथ ब्राह्मण' में शास्त्रोक्त विधि और 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में दर्शन-शास्त्र के एक प्रमुख निष्णात ज्ञाता होने का परिचय दिया है। बहुत सम्भव है कि वह भारत के पूर्वी भाग के रहने वाले हों, क्योंकि उनसे सम्बन्धित पुस्तकों में केवल उन्हीं भागों में बसने वाली जातियों का उल्लेख मिलता है, जैसे कि कुरु-पांचाल, कोसल-विदेह, श्विक्न और श्रंजय। कुरु-पांचाल के दो प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वानों के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध से भी यही निष्कर्ष निकलता है—इनमें से एक तो थे उनके गुरु उद्दालक (बृहदारण्यकोपनिषद्, ४, ३, ७,) और दूसरा था उनका गुरु-भाई उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु।

याज्ञवल्क्य की जीवनी उनके अपने युग के भारत का प्रायः सांस्कृतिक इतिहास ही है। भारत का वह भाग उस समय वैदिक संस्कृति का केन्द्र था और शिक्षा की दृष्टि से सबसे उन्नत था। उस भाग के बौद्धिक जीवन की गति उन विभिन्न केन्द्रों के कारण और भी वेगमयी हो गई थी जहाँ कि विद्वानों के समूह अपनी ज्ञान-पिपासा तृप्त करने आया करते थे। याज्ञवल्क्य अपनी शिक्षा-दीक्षा की समाप्ति के बाद शीघ्र ही उन विद्वानों की एक छोटी-सी टोली में मिल गए, जो ज्ञानोपार्जन के लिए सारे देश में भ्रमण करते फिरते थे। श्वेतकेतु, आरुणेय और सोम-शुस्म सात्ययज्ञिन् उनके साथी थे।

उस युग के विद्वान् नरेश, विदेह के राजा जनक से इन विद्वानों की रास्ते में भेंट हुई। राजा जनक ने तुरन्त ही शास्त्र-पद्धति-सम्बन्धी किसी गूढ़ विषय पर वाद-विवाद छेड़ दिया। विवाद में याज्ञवल्क्य श्रेष्ठतम रहे और उन्हें राजा की ओर से सौ गायें पुरस्कार-स्वरूप दी

गई। परन्तु राजा जनक "अपने रथ में बैठकर जाने से पूर्व" उन सब विद्वानों के ज्ञान की त्रुटियों की ओर संकेत करना नहीं भूले। अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता का भान रखने वाले उन पण्डितों ने इसे अपना अपमान समझा। वे बोले : "इस राजा ने हमारा मुँह बन्द कर दिया। आओ, हम उसे शास्त्रार्थ के लिए ललकारें!" याज्ञवल्क्य ने सच्चे ज्ञानियों की विनम्रता के साथ उत्तर दिया, "हम ब्राह्मण हैं और वह राजन्य। यदि हम उसे परास्त कर देते हैं तो हम क्या कहेंगे कि हमने किसे परास्त किया है? किन्तु यदि वह हमें परास्त कर देता है तो लोग यही कहेंगे कि एक राजन्य ने ब्राह्मणों को परास्त कर दिया। अतः यह विचार छोड़ दीजिए!" उन्होंने याज्ञवल्क्य के शब्दों का अनुमोदन किया और अपनी संकल्पित चुनौती को त्याग दिया, जो कि सच्ची संस्कृति की भावना के विरुद्ध थी। किन्तु सत्य की खोज में अधिक लगन के साथ लगे हुए याज्ञवल्क्य ने अपने साथियों को छोड़ दिया, "और अपने रथ में बैठकर राजा के पीछे हो लिये," और शीघ्र ही उनके पास पहुँच गए। राजा जनक ज्ञान के प्रति याज्ञवल्क्य की लगन से प्रभावित हुए और तुरन्त उन्हें वह सब-कुछ सिखा दिया जो वह जानना चाहते थे, जिसके बदले में राजा जनक के ब्राह्मण शिष्य ने उन्हें वरदान देने का वचन दिया। परन्तु उनके वरदान देने से पहले ही राजा जनक ने अपनी सच्ची कुलीनता और ज्ञान के प्रति अपनी श्रद्धा का परिचय देते हुए ये प्रशंसनीय शब्द कहे : "याज्ञवल्क्य, जब मैं चाहूँ तभी प्रश्न पूछने का मुझे अधिकार दो!" (शतपथ ब्राह्मण, ६,२)

याज्ञवल्क्य ने अपने विद्यार्थी-जीवन में जिस प्रतिभा का परिचय दिया था, वह उनके भावी जीवन में और भी अधिक बढ़ गई। शीघ्र ही उनकी गणना अपने युग के प्रसिद्धतम शिक्षकों और विचारकों में होने लगी। हिन्दू-दर्शन के श्रेष्ठतम रूप का प्रतिनिधित्व करने वाले उपनिषदों में याज्ञवल्क्य को सबसे अधिक प्रतिष्ठित दर्शन-शास्त्री के रूप में स्थान दिया गया है। उनकी बौद्धिक और आध्यात्मिक श्रेष्ठता को उस

युग के प्रमुख दार्शनिकों और विद्वानों ने चुनौती दी थी, जिन्हें विशेषतः इसी कार्य के लिए राजा जनक ने अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर एक सम्मेलन में आमन्त्रित किया था, पर वे सफल न हो सके। राज-निमन्त्रण उस कुरु-पांचाल प्रदेश के समस्त विद्वानों को भेजा गया था, जिसे कि शंकर ने अपने भाष्य में 'विद्वान् पण्डितों की बहुलता के लिए प्रसिद्ध' बताया है। स्वर्ण मुद्राओं से सुसज्जित सींगों वाली एक सहस्र गायों (५ पाद प्रति गाय) का भव्य पुरस्कार इस सभा में सबसे विद्वान् निर्णीत होने वाले व्यक्ति को दिया जाने वाला था। याज्ञवल्क्य ने निर्णय की प्रतीक्षा किये बिना ही आत्म-विश्वास के साथ पारितोषिक अपना लिया और अपने शिष्यों को उसे ले जाने का आदेश दिया। याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी महत्ता की इस घोषणा ने तुरन्त ही प्रतियोगिता आरम्भ किये जाने का संकेत दिया। आठ प्रतिष्ठित विद्वान्, जिनमें एक महिला भी थी, याज्ञवल्क्य के विरुद्ध खड़े हुए। याज्ञवल्क्य ने उन्हें परास्त करके प्रत्येक को विवाद में निरुत्तर बना दिया। एक प्रकार से 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का अधिकांश भाग इसी दार्शनिक सम्मेलन की कार्यवाहियों का अभिलेख है, जिसमें प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क द्वारा जीवन की कुछ अति गूढ़ समस्याओं व रहस्यों से सम्बन्धित सिद्धान्तों और समाधानों को प्रतिपादित एवं परिभाषित किया गया है।

याज्ञवल्क्य को ललकारने वालों में उसके भूतपूर्व गुरु उद्दालक आरुणि भी थे, जो स्वयं उस समय के धुरन्धर विद्वान् थे और जिन्होंने शास्त्रीय शिक्षा में अतीव प्रतिष्ठा पाई थी। युवावस्था में ही वह अपने जन्म-स्थान कुरु-पांचाल देश को छोड़कर सत्य की खोज में निकल पड़े थे और कुछ समय तक उत्तर के मद्र प्रदेश में वहाँ के विद्वान् पतञ्जल काप्य से शिक्षा पाने के लिए वहाँ रुके थे। (बृ० उ० ३, ७,१) हम एक बार उन्हें उस "उत्तरी देश के लोगों के बीच अपना रथ दौड़ाते हुए" और "इन भीरु लोगों को वाद-विवाद के लिए ललकारता पाते हैं" जिससे "इस

उत्तरीदेश के ब्राह्मण भयभीत हो उठते हैं" और अन्त में स्वैदायन शौनक में अपना नेता पाकर ही वे अपनी रक्षा कर पाते हैं। (शतपथ ब्रा० XI 4. I) इस प्रकार वह अपने युग का प्रतिनिधित्व करने वाले पण्डित और दार्शनिक थे, विद्वत्ता में जिनकी प्रतिष्ठा तथा परा के बारे में ओल्डेनबर्ग ने लिखा है (बुद्ध, पृष्ठ ३१६) "जब ब्राह्मण-काल के शिक्षकों और अन्य गणयमान्य व्यक्तियों के नामों के अव्यवस्थित पुञ्ज को व्यवस्थित करने के लिए आवश्यक छान-बीन का समय आयगा तो ब्राह्मण विचार-धारा की उत्पत्ति और प्रसार का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र आरुणि और उनके आस-पास के लोगों में मिलेगा।" अपने भूतपूर्व गुरु के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने एक विद्वत्तापूर्ण सारगर्भित व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने आत्मा के सर्वव्यापी एवं चिरन्तन स्वरूप का वर्णन किया; जिसकी सीमाओं से बाहर किसी भी चीज का अस्तित्व असम्भव है। "और तब उद्दालक आरुणि शान्त हो गए।"

याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने वालों में अश्वल भी एक था जिसकी विद्वत्ता ने उसे विदेह के राजा जनक के होता के उच्च पद पर बिठा दिया था। उसने याज्ञवल्क्य से मुक्ति-सम्बन्धी दार्शनिक प्रश्न और शास्त्रोक्त विधि-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रश्न भी पूछे और सन्तोषजनक उत्तर पाकर वह शान्त हो गया। शास्त्रार्थ में इसके बाद आर्तभाग ने एक प्रश्न ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में पूछा और फिर मृत्यु, आत्मा और अमरता-सम्बन्धी अधिक गूढ़ प्रश्न पूछे; जिनकी मीमांसा याज्ञवल्क्य ने खुले सम्मेलन के बजाय एकान्त में करनी चाही। उन्होंने आर्तभाग से कहा: "आओ, मेरा हाथ पकड़ो मित्र! हम दोनों एकान्त में ही इस विषय का ज्ञान सर्वोत्तम ढंग से प्राप्त कर सकेंगे, इस बड़ी सभा में नहीं।" इसके बाद वे उठकर बाहर चले आए और कर्म के सिद्धान्त पर वाद-विवाद करने लगे। "और तब आर्तभाग शान्त हो गया।"

फिर भुज्यु की बारी आई, जो कि याज्ञवल्क्य के भूतपूर्व शिक्षक उद्दालक आरुणि का सहपाठी था; और अतः याज्ञवल्क्य से आयु व पद

में काफी बड़ा था। उसने पारिक्षितों द्वारा अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए किये गए अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त पारिक्षितों के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा और उत्तर पाकर संतुष्ट हो गया।

इसके बाद उषस्त और कहोड़ ने ब्रह्मन् के स्वरूप के सम्बन्ध में, जो मनुष्य के ज्ञान से परे नहीं बल्कि अन्तरज है, उस आत्मन् के सम्बन्ध में जो अन्तरयामी है, कुछ प्रश्न पूछे। उषस्त को, जो कि ब्रह्मन् को साक्षात् देखना चाहता था, याज्ञवल्क्य ने यह उत्तर दिया कि ब्रह्मन् अथवा आत्मन् इन्द्रियों के परे है और स्वयं इन्द्रियों को उसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं का बोध होता है, अतः इन्द्रियाँ उसे समझ नहीं सकतीं। कहोड़ को याज्ञवल्क्य ने निम्नलिखित सारगर्भित तथा मर्मस्पर्शी व्याख्यान दिया: "आत्मन् वह है जो भूख और प्यास, शोक और मोह, जरा और मृत्यु से परे है। इस आत्मन् का बोध प्राप्त करके ही ब्राह्मण-गण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा पर विजय प्राप्त करते हैं और अनागरिक संन्यासियों का जीवन व्यतीत करते हैं और उस बल के सहारे जीवित रहते हैं जो केवल आत्मन् के बोध से प्राप्त होता है; और फिर वे तब तक चिन्तन करते रहते हैं जब तक कि ब्रह्मन् में लीन न हो जायँ।"

इनके बाद वचक्नु की पुत्री गार्गी ने याज्ञवल्क्य को ललकारा। उसने पहले अनेक प्रश्न किये जिनके अन्त में वह एक ऐसे विषय पर पहुँची जो विवाह के क्षेत्र से बाहर है और इस प्रकार अपनी बुद्धिहीनता का परिचय देकर कुछ समय के लिए चुप हो गई। फिर वह बोली: "जिस प्रकार काशी या विदेह का कोई वीर युवक प्रत्यंचाहीन धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर दो घातक बाण उठाता है उसी प्रकार, हे याज्ञवल्क्य, मेरे दो प्रश्न हैं, जिनका तुम उत्तर दो।" उसे अपने उन दोनों प्रश्नों की दुःसाध्यता पर इतना विश्वास था कि उसने विद्वानों की उस सभा के बीच घोषणा की कि यदि याज्ञवल्क्य उन प्रश्नों का उत्तर दे देगा तो वह समस्त विरोधियों के लिए सदा अजेय रहेगा। वे दोनों

प्रश्न उस ब्रह्मन् के सम्बन्ध में थे जो भूत, वर्तमान और भविष्य तथा द्युलोक और पृथ्वी से परे है; पर जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य तथा द्युलोक और पृथ्वी का समावेश है। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मन् की व्याख्या करते हुए बताया, "वह अक्षर है, अविनाशी है; साधारण पदार्थ के गुणों से वह मुक्त है; न वह मोटा है न पतला; न छोटा है न बड़ा; न वह आग की तरह लाल है न जल की तरह तरल है; न वह छाया है न तम; न वायु है न आकाश; न संगवान् है; वह स्वयंभू है; न उसमें रस है न गंध; उसके न नेत्र, न कान, न वाणी, न बुद्धि है; उसमें न प्रकाश है न प्राण; कहीं और जाने के लिए उसमें न मुख है न द्वार, उसका न आकार है न माप; न भीतर है न बाहर, न वह स्वयं खाता है और न उसे कोई खा सकता है। इस अक्षर ब्रह्मन् के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा, द्युलोक और पृथ्वी; निमेष और मुहूर्त, दिन और रात, पक्ष, मास, ऋतु और सम्वत्सर स्थित रहते हैं; वह विभिन्न दिशाओं में बहने वाली नदियों पर नियन्त्रण रखता है; और वही कर्त्ता को कर्म का फल दिलाता है, वह समय द्वारा असम्बद्ध हेतु और फल को सम्बन्धित करता है। वह ब्रह्मन् स्वयं दृष्टि का का विषय नहीं किन्तु द्रष्टा है; श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है; वह मनन का विषय नहीं किन्तु मननकर्त्ता है; स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता है; और वही वह आदि सिद्धान्त है जो दृष्टि, श्रवण, ज्ञान और बोध का संचालन करता है।" याज्ञवल्क्य के व्याख्यान के समाप्त होते ही गार्गी बोली : "पूज्य ब्राह्मणगण, आप लोग इसीको बहुत मानें यदि आप याज्ञवल्क्य के आगे नतमस्तक होकर छुटकारा पा सकें। मुझे विश्वास है कि कोई भी इन्हें ब्रह्मविषयक विवाद में कभी भी परास्त करने की कल्पना तक नहीं कर सकता।" और यह कहकर वह शान्त हो गई।

याज्ञवल्क्य का अन्तिम विरोधी विदग्ध शाकल्य था, जिसने एक लम्बे वाद-विवाद द्वारा ब्रह्मन् को प्रेम, सूर्य और वाणी आदि साकार

रूपों में प्रशासन करने वाला सिद्ध करना चाहा। याज्ञवल्क्य ने यह बताते हुए उसकी त्रुटि का शोध किया कि जिसे वह सर्वोच्च पुरुष समझ रहा है वह वास्तव में अधीन पुरुष है। "सर्वोच्च पुरुष इन सबसे ऊपर है और वह इन्हें एक-दूसरे से पृथक् करता है और इन्हें कार्यान्वित करता है अर्थात् उन्हें क्रियाशील बनाता है तथा फिर वापस बुला लेता है।"

अपने अन्तिम विरोधी को इस प्रकार शास्त्रार्थ में निरुत्तर करके यज्ञिवल्क्य ने सभा को सम्बोधित करके कहा : "पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमें से जिसकी इच्छा हो वह मुझसे प्रश्न करे। अथवा आप सभी मुझसे प्रश्न करें। अथवा आपमें से जिसकी इच्छा हो उससे मैं प्रश्न करता हूँ, अथवा आप कहें तो मैं आप सभी से प्रश्न कर सकता हूँ।" किन्तु उन ब्राह्मणों का कुछ भी कहने का साहस न हुआ।

अपने युग के महानतम दार्शनिक के रूप में अब याज्ञवल्क्य की ख्याति स्थापित हो चुकी थी। अब हम उसे स्वयं अपने कुछ शिक्षकों को शिक्षा देते पाते हैं। देख चुके हैं कि किस प्रकार उद्दालक, आरुणि, जो एक प्रतिष्ठित बौद्धिक नेता थे, ज्ञान और तर्क में अपने भूतपूर्व छात्र के सामने झुक चुके थे। दूसरे थे विद्वान् राजा जनक वैदेह (जिनकी गणना हमें उस युग के प्रमुखतम ज्ञानियों में करनी चाहिए, ड्यूसेन, 'फिलासफी आफ द उपनिषद्स' जिनके साथ शास्त्रार्थ के दौरान में प्रतिपादित किया। "जिस प्रकार लम्बी यात्रा के लिए निकलने वाला यात्री अपने लिए रथ या नौका का प्रबन्ध कर लेता है उसी प्रकार राजा ने अपनी आत्मा की निरन्तर यात्रा के लिए उपयुक्त उपनिषदों तथा सूत्रों को अपने मस्तिष्क में समाहित कर लिया था," जिनका ज्ञान उन्हें जितवन, उदांक, बकु, गर्दभविपीत, सत्यकाम जाबाल, विदग्ध शाकल्य नामक छः गुरुओं से प्राप्त हुआ था। उन्होंने क्रमशः राजा जनक को ब्राह्मण की छः परिभाषाएँ बताईं—वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मनस् और हृदय। याज्ञवल्क्य ने इन छः रूपों के अलग-अलग उपनिषदों अर्थात्

गुप्त गुणों का वर्णन करके, जो इन रूपों के 'आधार' अर्थात् आयतन हैं, उन परिभाषाओं को विकसित किया : प्रज्ञा जो वाक् का गुण है (क्योंकि ज्ञान वाणी द्वारा ही प्रसारित किया जा सकता है); *प्रियम्* जो प्राण का गुण है क्योंकि जीवन अपनी सुरक्षा के लिए सदा अपने हित अथा अपनी सन्तुष्टि की खोज करता रहता है; *सत्यम्* जो चक्षु का गुण है क्योंकि सत्य के दर्शन श्रोत्र से अधिक चक्षु से हो पाते हैं; *अनन्त* श्रोत्र का गुण है; *आनन्द* जो मनस का गुण है क्योंकि विचार ही सुख का प्रभाव है; *स्थिति* जो हृदय का गुण है क्योंकि हृदय में ही प्रत्येक वस्तु का वास है। प्रत्येक पाठ के बाद राजा जनक ने हाथी के समान बैलों के साथ गायें भेंट कीं, परन्तु याज्ञवल्क्य ने प्रत्येक बार भेंट अस्वीकार की; क्योंकि उसके पिता का आदेश था कि गुरु तब तक भेंट स्वीकार नहीं कर सकता जब तक कि शिष्य की शिक्षा समाप्त न हो जाय। एक अन्य अवसर पर राजा जनक सिंहासन से उठकर याज्ञवल्क्य के समीप आए और उन्होंने शीश नवाकर उपदेश पाने की प्रार्थना की। याज्ञवल्क्य ने राजा को उपनिषदों के अध्ययन करने के कारण आत्मानन्दी, देवताओं के समान आदरणीय और धनवान् होते हुए भी वेदों का अध्ययन व उपनिषदों के भाष्यों को सुनने के कारण विद्वान् बताया। अतः ऐसे सक्षम व्यक्ति से उन्होंने अति कठिन प्रश्न पूछा : "मृत्यु के बाद तुम कहाँ जाओगे ?" राजा जनक इस प्रश्न का उत्तर न दे सके और तब याज्ञवल्क्य ने उस प्रश्न को एक ऐसे गूढ़ उपदेश का आधार बनाया कि जिसका विषय आज भी मानव-विचार के लिए एक पहेली बना हुआ है। (ड्यूसैन की स्पष्ट स्वीकारोक्ति देखिए : "आज भी हमें इससे अच्छा उत्तर नहीं मिल पाया है।" फिलॉसफी, पृष्ठ ६०)। याज्ञवल्क्य के उपदेश का सार यह है कि "मृत्यु के बाद आत्मा ऐसी किसी जगह नहीं जाती जहाँ कि वह आरम्भ से ही न हो, और न आत्मा वह बनती है जो वह पहले न रह चुकी हो। आत्मा अनन्त और सर्वव्यापी है।" (ड्यूसैन-कृत फिलॉसफी, पृष्ठ ३४८)। उपदेश की

समाप्ति पर विदेहराज जनक इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने उपदेशक के चरणों में अपना समस्त राज-पाट और स्वयं अपने-आपको एक दास के रूप में अर्पित कर दिया।

राजा जनक और याज्ञवल्क्य के बीच एक तीसरा दार्शनिक वाद-विवाद भी अभिलिखित है। इस बार राजा ने पहले प्रश्न पूछा: "मनुष्य को किस स्रोत से प्रकाश प्राप्त होता है?" याज्ञवल्क्य ने बताया कि जब मनुष्य को सूर्य, चन्द्रमा, और अग्नि-जैसे बाह्य स्रोतों का प्रकाश नहीं मिल पाता तो मनुष्य की आत्मा का अन्तर्निविष्ट प्रकाश ज्वलन्त हो उठता है। यह "वह विज्ञानमय आत्मा है जो ज्ञानेन्द्रियों को कार्यान्वित करती है और हृदय के अन्तर में चमकती रहती है।" यह आत्मा मनुष्य के जन्म के समय शरीर का रूप धारण कर लेती है और समस्त पापों से संश्लिष्ट हो जाती है, किन्तु मृत्यु के समय समस्त पाप छूट जाते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यक्ति वासनाओं का घर है। जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही उसका संकल्प होता है; जैसा संकल्प होगा वैसा ही कृत्य होगा; और जैसा कृत्य होगा वैसा ही फल मिलेगा। जिस वस्तु में भी मनुष्य का मन लगा होगा उसी दिशा में वह परिश्रम पूर्वक कृत्य करेगा; और इस संसार में अपने कृत्यों का सम्पूर्ण फल पाकर (जो कि उसके कृत्यों का अस्थायी पुरस्कार है) वह पुनः उस लोक से इस कर्मलोक संसार में जाता है। किन्तु वह मनुष्य, जिसमें वह इच्छाएँ नहीं हैं और जो इच्छा रहित होने के कारण इच्छाओं से मुक्त है व इच्छाओं से सन्तुष्ट है, अथवा केवल आत्मा की ही इच्छा रखता है, उसकी आत्मा और कहीं नहीं जाती; क्योंकि वह ब्रह्म है और ब्रह्म में ही समा जाता है। जब हृदय में समाविष्ट समस्त इच्छाएँ दूर हो जाती हैं तो मर्त्य-अमर्त्य होकर ब्रह्म बन जाता है और मनुष्य अपना शरीर साँप की केंचुली की तरह त्याग देता है। यदि मनुष्य आत्मा को इस विशेष रूप से समझ लेता है और "मैं ही परमात्मा हूँ" कहता है तो फिर ऐसी कौन-सी कामना या इच्छा रह जाती है

जिसके लिए उसे शरीर की समाप्ति पर सन्तप्त होना पड़े ? यह जानने के कारण ही प्राचीन समय के लोग सन्तान की कामना नहीं करते थे। वे कहते थे कि सन्तान लेकर हम क्या करेंगे जब कि हमारे पास यह आत्मा और ब्रह्म है ? इस व्याख्यान की समाप्ति पर जिसके शब्दों से "अधिक गूढ़, सुन्दर व भव्य शब्द कभी भी मानव-जिह्वा पर न आए थे" (ड्यूसैन की टिप्पणी) । राजा जनक ने अपनी पूर्वकथित भेंट प्रस्तुत करते हुए कहा, "श्रीमान्, मैं विदेहवासियों को और साथ में स्वयं अपने-आपको दास के रूप में, आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।" बृ० उ० IV 4-I)

याज्ञवल्क्य अपने उपदेशों को स्वयं अपने ऊपर प्रयुक्त करने में लेश-मात्र भी संकोच न करते थे। वह जिस सिद्धान्त का प्रचार करते थे उसीको अपने जीवन में अपनाते थे। आत्म-ज्ञान के साधन, ब्रह्म और सत्य की खोज-सम्बन्धी उनके सिद्धान्तों ने उन्हें अपने जीवन के महान् कृत्य—संसार का परित्याग और संन्यास-ग्रहण के लिए तैयार किया। फलतः याज्ञवल्क्य के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उपस्थित हुआ जिसका उल्लेख 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में मिलता है। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। पहली पत्नी ब्रह्म से भिज्ञ थी और दूसरी केवल साधारण स्त्रियों-जैसा ज्ञान रखती थी। जब उन्होंने गृहस्थाश्रम त्यागकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने का संकल्प किया तो एक दिन उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयी को बुलाकर अपने विचार की घोषणा इन शब्दों में की : "मैं गृहस्थाश्रम त्यागकर वन में जा रहा हूँ, अतः तुम्हारे और कात्यायनी के बीच निबटारा कर देना चाहता हूँ।" मैत्रेयी ने कहा : "स्वामी ! यदि धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ, अथवा नहीं ?" "नहीं," याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, "धनवानों का जैसा जीवन होता है वैसा ही तुम्हारा भी जीवन हो जायगा ?" "किन्तु धन से अमरता की आशा तो नहीं की जा सकती।" मैत्रेयी बोली : "उसे लेकर मैं क्या

करूँगी जिससे मैं अमर नहीं हो सकती ? स्वामी, आप अमरता के विषय में जो जानते हीं वह बताएँ।" याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा : "तुम मुझे सचमुच प्रिय हो, और जो-कुछ तुममें मुझे प्रिय है उसे तुमने बढ़ा दिया है। अतः देवी, यदि तुम चाहती हो तो मैं अमरता की व्याख्या करूँगा और मैं जो-कुछ कहूँ उस पर ध्यान देना !" और तब याज्ञवल्क्य ने आत्मा-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त की इस प्रकार व्याख्या की : "पत्नी को पति केवल इसलिए प्रिय नहीं होता कि वह उसका पति है, बल्कि वह आत्मन् के हेतु उसे प्रिय होता है, इसी प्रकार पत्नी भी पति को केवल इसलिए प्रिय नहीं होती कि वह उसकी पत्नी है, बल्कि वह आत्मन् के कारण उससे प्रेम करता है। और इसी प्रकार पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवता, वेद और यह विश्व स्वतः प्रिय न होकर आत्मन् के कारण प्रिय होते हैं।" इसका अर्थ यह है कि संसार के समस्त पदार्थों और सम्बन्धों का अस्तित्व हमारे लिए उसी हद तक होता है और वे हमें उसी हद तक ग्राह्य एवं प्रिय होते हैं जिस हद तक वे हमारी चेतना में समाविष्ट हो जायँ। अतः मैत्रेयी, हमें वास्तव में आत्मन् को ही समझना चाहिए तथा उस पर विचार करना चाहिए। जिसने आत्मा का दर्शन, श्रवण, बोध और ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसने समस्त विश्व को जान लिया है।" जिस प्रकार दुन्दुभि, शंख, और वीणा के स्वरों का स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं है, वे तभी उत्पन्न होते हैं जब कि वाद्य-यन्त्र को बजाया जाय, उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थों और सम्बन्धों को वही जान सकता है जो आत्मन् को जानता है। जिस प्रकार गीले इंधन से जलाई हुई अग्नि से धुएँ के बादल उठते हैं उसी प्रकार वेद और ज्ञान के अन्य विषय, भोजन और जल यहाँ तक कि यह संसार, और अन्य लोक और समस्त प्राणी इसी आत्मन् के निःश्वास हैं। उसी प्रकार जैसे समस्त जल का समागम समुद्र में, समस्त स्पर्शों का त्वचा में, रसों का जिह्वा में, समस्त गन्धों का नासिका में, समस्त रूपों का चक्षु में, समस्त ध्वनियों का श्रोत्र में, समस्त विद्याओं

का हृदय में, समस्त कल्पनाओं का मस्तिष्क में, समस्त क्रियाओं का दोनों हाथों में, समस्त गति का दोनों चरणों में और समस्त वेदों का वाक् में है। जिस प्रकार नमक के डले में न भीतर है न बाहर, बल्कि वह एक सम्पूर्ण रसघन है उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य भेद से शून्य सम्पूर्ण ज्ञानघन ही है।" तदुपरान्त याज्ञवल्क्य के इस विरोधाभासपूर्ण कथन को सुनकर कि "मृत्यु के बाद चेतना नहीं रहती" मैत्रेयी बोली : "श्रीमन्, आपने मुझे पूर्णतः भ्रम में डाल दिया। मैं वास्तव में आत्मा को समझ नहीं पाई।" याज्ञवल्क्य ने उसे आश्वासन दिलाते हुए कहा, "मैंने ऐसी कोई बात नहीं कही है जो भ्रम में डालने वाली हो", और फिर उन्होंने अपने कथन की व्याख्या करते हुए कहा, "जहाँ द्वैत होता है (जो वास्तव में द्वैत नहीं होता) वहीं अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य को सम्बोधित करता है और अन्य अन्य को जानता है; किन्तु जहाँ उसके लिए सब-कुछ ही उसकी अपनी आत्मा बन गया हो वहाँ वह किसके द्वारा किसे सूँघे, किसे देखे, किसे सुने, किससे कहे और किसे जाने? जिसके द्वारा मनुष्य यह सब जानता है उसे किस साधन से वह जाने, विज्ञाता का ज्ञान किस तरह करे?" और फिर यह कहकर कि "मैत्रेयी, तुझे उपदेश दिया जा चुका!" याज्ञवल्क्य घर की ओर चल दिए (बृ० उ० IV 6)। भारत में दर्शन-शास्त्र केवल अध्ययन का ही विषय नहीं था, अपितु उसे जीवन में अपनाकर आत्मसात् किया जाता था।

"ब्रह्म-ज्ञान का अर्थ विश्वदेवतावादी सिद्धान्तों का वह ज्ञान नहीं है जो कि आरामकुरसी पर लेटकर 'सेकरेड बुक्स ऑफ द ईस्ट'-जैसी पुस्तकें पढ़कर प्राप्त किया जाता है, बल्कि उसका अर्थ है इस सार्वत्रिक आत्मा के साथ एक ऐसा तादात्म्य स्थापित करना जिसके प्रकाश में समस्त भौतिक बन्धन टूट जाते हैं" (सर चार्ल्स इलियट, हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म, खण्ड I पृष्ठ 75)।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य जीवन और जीवन के सुखों का परित्याग

करके अज्ञात में समाविष्ट हो गए, किन्तु उनका उपदेश, मौखिक परम्परा की उस पद्धति द्वारा, जिसके कारण आज हमारा समस्त धार्मिक साहित्य सुरक्षित है, उनके बाद भी गुरु और शिष्यों की अनेकानेक पीढ़ियों की स्मृति में जीवित रहा। उनके उपदेशों के कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण अंगों ने हिन्दू-दर्शन की वह आधारशिला प्रदान की है जिस पर वह कई युगों तक विकसित एवं विस्तीर्ण हो पाया है। उन महत्त्वपूर्ण अंगों का निम्नलिखित तीन साध्यों में संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है :

(१) आत्मा हमारा अन्तर्वर्ती ज्ञान है। हम देख चुके हैं कि याज्ञवल्क्य ने एक जगह आत्मन् को "विज्ञानमय तथा हृदय में प्रकाशित होने वाला प्रकाशों का प्रकाश बताया है; जो कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे और अग्नि के सुप्त हो जाने, और यहाँ तक कि धर्म के पथ-प्रदर्शन की असफलता के बाद भी प्रकाशित रहता है।" [बृ० दा० उ० iv. ३, २-७]

(२) आत्मा अन्तर्वर्ती ज्ञान के रूप में हमसे पृथक् और कोई वस्तु नहीं बन सकती, और इसलिए वह स्वयं अज्ञेय है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि याज्ञवल्क्य ने अपने कई कथनों में आत्मा को प्रत्यक्षतः ज्ञान का विषय बताया है. उदाहरणार्थ : "आत्मा को देखना, सुनना-समझना और उस पर चिन्तन करना चाहिए" (बृ० उ० ii, १, १६); या ब्रह्मन् की यह परिभाषा कि वह सच्चिदानन्द (सत्-चिद्-आनन्द) है [बृ० उ० ii. १, १६] किन्तु ये प्रत्यक्षतः सकारात्मक वर्णन अनुभव के दृष्टिकोण से वास्तव में नकारात्मक गुण ही हैं: आत्मा का 'सत्' अनुभव द्वारा प्रकट नहीं हो सकता, जब कि समस्त दुःखों के निराकरण को ही 'आनन्द' समझा जाता है; क्योंकि 'अतोन्यद् आर्तम्,' "जो आत्मा से भिन्न है वह दुःखपूर्ण है" [बृ० उ० iii, ४, २]। इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञान साधारण ज्ञान से, आनुभविक सत्य के ज्ञान से सर्वथा भिन्न है, जिसे अविद्या कहा गया है (अमृतम् सत्येनाच्छन्नम—अमरता अथवा आत्मन् आनुभविक सत्य से आवृत है।) साधारण ज्ञान में कर्त्ता और कर्म का द्वैत होता है और इसलिए सर्वज्ञ समष्टि के रूप

में ब्रह्मन् अज्ञेय है। अतः उसे नकारात्मक रूप में 'नेति-नेति' आदि शब्दों द्वारा ही अभिव्यक्त किया जा सकता है। आनुभविक विशेषण उस पर प्रयुक्त नहीं किये जा सकते; क्योंकि आनुभविक व्यवस्था कालान्तर के नियमों के अधीन है, जब कि ब्रह्म कालान्तर-रहित और कारणताशून्य है। [बृ० उ० iii. ८, ७]

(३) आत्मा ही एक-मात्र सत्य है (सत्यम् सत्यस्य सत्यम्।) "आत्मा से बाहर और कोई नहीं है, उससे भिन्न और कुछ नहीं है।" [बृ० उ० iv. ३, २३-३०] ड्यूसेन के शब्दों में, "हमारे लिए आत्मा से परे कोई सत्य (हमारी चेतना के बाहर का संसार) न है, और न कभी हो सकता है।" उपनिषद् और याज्ञवल्क्य को अमर गौरव प्रदान करने वाला समस्त दर्शन अथवा धर्म का यही एक मूल विचार है कि संसार (बाहरी संसार और हमारे अपनी आन्तरिक अनुभूतियों का संसार) केवल एक भ्रम है, वास्तविकता नहीं। इस भ्रम को ज्ञान की तीखी तलवार से भेदा जा सकता है और यही मुक्ति है। हम सबको इस अस्तित्व से, जो कि अज्ञान का संसार है, छुटकारा पाना है। अतः इस प्रकार आत्मा का ज्ञान हमें केवल मुक्ति प्राप्त करने में सहायता ही नहीं प्रदान करता बल्कि वह स्वयं मुक्ति है।

अनन्य सत्य के रूप में आत्मा का सिद्धान्त सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' के इस प्रसिद्ध सूत्र में उच्चरित किया गया था : "एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"; एकमात्र सत्य का विद्वानों के विभिन्न नामों से वर्णन किया है।" "समस्त द्वैत भाव, फलतः समस्त स्थानान्तराल, समस्त कालान्तर हेतु और फल का समस्त सम्बन्ध, कर्त्ता और कर्म की परस्पर निर्भरता केवल शब्दों पर ही आधारित है, केवल शब्दों का ही विषय है.... वाचारम्भ.।" [छा० उ० vi. १, ४] किन्तु याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम आत्मा की इस वित्ति को उसकी सम्पूर्ण आत्मिक एवं वैज्ञानिक यथार्थता के साथ समझा और इसलिए उनकी गणना उपनिषद्-दर्शन के जन्मदाताओं में होती है। याज्ञवल्क्य ने मानव-विचार को

एक और महान् योग दिया है: साधारणतः ईश्वर और आत्मा कही जाने वाली दो वस्तुओं को एक ही रूप में देखना अपने व्यक्तिगत अन्तरात्मा को, एक-मात्र आत्मन् को, ब्रह्मन् के रूप में, समस्त प्रकृति तथा उसकी समस्त घटनाओं की अन्तरात्मा के रूप में देखना जिसे निम्नलिखित प्रसिद्ध सूत्रों में व्यक्त किया गया है "अहं ब्रह्माऽस्मि अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ" [बृ० उ० i. ४, १०] "तत् त्वं असि अर्थात् वही तू है," [छा० उ० vi. ८, ७] "स वा अयं आत्मा ब्रह्म, अर्थात् ब्रह्म ही सचमुच आत्मा है" [बृ० उ० iv. ४,५]। इस सम्बन्ध में हमें याज्ञवल्क्य के इस उपदेश के इस परिणाम पर भी ध्यान देना चाहिए कि प्राचीन धर्म द्वारा निर्धारित बलिदान की रस्मों को पहली बार जीवन में उनको अपना उचित स्थान दिया गया। बलिदान के मूल्य को समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा है: "हे गार्गी, जो इस अक्षर को न जानकर हवन और यज्ञ करता है तथा दान आदि देता है और अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त तप करता है उसका यह सब कर्म उसे केवल परिमित लाभ ही कराता है।" [बृ० दा० उ० iii. ८, १०]

ऋषि याज्ञवल्क्य के जीवन-सम्बन्धी कुछ अन्य गौण तथ्यों का भी अब उल्लेख किया जाना चाहिए। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (vi. ४, ५) के अन्तिम चरण में 'शुक्लयजुस्' का रचयिता याज्ञवल्क्य को बताया गया है। यह प्रश्न उठ सकता है कि याज्ञवल्क्य ने स्वयं इसकी रचना की थी अथवा उन्होंने 'वाजसनेयी धार्मिक धर्मसंहिता' का केवल संकलन-मात्र किया था। यह प्रश्न अब निर्णीत हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि पाणिनि के समय में (जो कि प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् सर आर० जी० भण्डारकर के अनुसार लगभग सात शताब्दी ई० पू० था) वह संहिता स्वयं याज्ञ-वल्क्य की कृति समझी जाती थी न कि वह श्रुति, जो कि हमारी अधि-कांश प्राचीन संस्कृत कृतियों की तरह परम्परानुसार गुरु से शिष्य को प्राप्त होती थीं। वार्त्तिक द्वारा पाणिनि के एक सूत्र की व्याख्या से [iv ३, १०५] प्रतीत होता है कि पाणिनी के समय में 'शतपथ ब्राह्मण' के

बारे में यह समझा जाता था कि वह अन्य ब्राह्मणों से अधिक आधुनिक है और यह कि वह किसी एक व्यक्ति की रचना है और ऐसी रचना भी नहीं जो केवल प्रोक्त हो, अथवा उस रचयिता के नाम की प्राचीन वैदिक शाखा की परम्परागत सम्पदा हो। पाणिनि और कात्यायन द्वारा याज्ञवल्क्य के अधिक आधुनिक ऋषि होने की बात 'आपस्तम्ब' (लगभग ५०० ई० पू०)—कृत 'गृह्य-सूत्र' के एक चरण द्वारा प्रमाणित होती है, जिसमें श्वेतकेतु को, जो कि याज्ञवल्क्य के समकालीन और सहपाठी थे, उत्तरकालीन पुरुषों में एक ऐसे विद्वान् का अनुपम उदाहरण बताया गया है (जब कि ब्रह्मचर्य सम्बन्धी नियमों का विशेष दृढ़ता के साथ पालन नहीं होता था) जो अपने वेद-ज्ञान के कारण ऋषि बन गया था [i. २, ५, ६]! याज्ञवल्क्य के जीवन के सम्बन्ध में कुछ झलकियाँ और उपलब्ध हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में याज्ञवल्क्य को कई बार एक हठी पुरोहित के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उन्हें कुछ नये विचारों व सिद्धान्तों का श्रेय दिया गया है। उन्होंने पुरोहितों की इस नई माँग का विरोध करते हुए कि हवन-यज्ञ आदि में प्राप्त होने वाले पुजापे का एक अंश पुरोहित को मिलना चाहिए, कहा था, "जनता इसमें कैसे श्रद्धा रख सकती है? जिस किसी वरदान के लिए भी पुरोहित प्रार्थना करे, वह वरदान पूजक के लिए ही है न कि पुरोहित के लिए।" [i. ३, १, २६] सूर्य के प्रति इस प्रार्थना में "वर्चो मे देहि अर्थात् मुझे प्रकाश दो," याज्ञवल्क्य की आत्मा की सारभूत महत्ता का परिचय मिलता है, जो कि "मुझे गौएँ दो"-जैसी भौतिकता-रंजित प्रार्थना के विरुद्ध सम्पूर्णतः आध्यात्मिक ध्वनि लिये हुए है। [i. ९, ३, १६]

अन्त में याज्ञवल्क्य के जीवन द्वारा चित्रित होने वाली देश की शिक्षा एवं संस्कृति से सम्बन्धित दशा तथा अवसरों का भी उल्लेख किया जा सकता है। सबसे पहली बात उल्लेखनीय यह है कि स्थान-स्थान पर छोटी गृह-पाठशालाएँ हुआ करती थीं, जिनका संचालन केवल एक गुरु ही करता था, जो कि अपने परिवार में उतने ही छात्र रखता,

जिनका वह प्रबन्ध कर सकता था। अनेक वर्षों के अनुशासित जीवन के बाद छात्रों की शिक्षा समाप्त होने पर वे सामान्यतः घर लौटकर गृहस्थ्य-जीवन का पालन करते थे। किन्तु अधिक अध्ययनशील छात्र, जिनमें ज्ञानोपार्जन की अधिक लगन होती, सारे देश में भ्रमण करते थे और अन्य विद्या-केन्द्रों में जाकर अपनी ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने के लिए अधिक प्रतिष्ठित शिक्षकों की खोज करते थे। विचरण करते हुए ऐसे विद्वानों की ऐसी मण्डलियाँ उस समय में आम तौर पर दिखाई देती थीं। ज्ञान की खोज में भ्रमण करते हुए स्वभावतः उनकी भेंट अन्य विद्वानों से होती, और वे विचारों का आदान-प्रदान और बहुधा गम्भीर शास्त्रार्थ भी करते थे। कई बार ऐसे वाद-विवाद आकस्मिक भेंट का फल न होकर पहले से ही तय करके किये जाते थे। बाहर से आने वाला विद्वान् चुनौती देता और साथ में विजेता के लिए पुरस्कार की भी घोषणा कर देता था। इस प्रकार उच्च शिक्षा का व्यापक रूप से प्रसार और उसकी वृद्धि, स्थायी पाठशालाओं के अतिरिक्त, विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों के वाद-विवादों द्वारा भी होती थी, जो कि अपने दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तों को स्थापित करने और उस समय के ज्ञान के क्षेत्र में अपनी बौद्धिकता व प्रतिष्ठा कायम करने के लिए ऐसे अवसरों की खोज में रहते थे। यह भी उस युग का एक शुभ लक्षण था कि विद्या धन से श्रद्धांजलि पाए बिना न रहती थी। विद्या-बुद्धि और सोने-चाँदी के धनियों के बीच एक सुखद सामंजस्य और पारस्परिक आदर था। अपनी बौद्धिक परम्परा और स्वयं उपार्जित ज्ञान पर गर्व करने वाले ब्राह्मण, कहीं से भी शिक्षा प्राप्त करने में संकोच नहीं करते थे। वे शिक्षा दे सकने वाले क्षत्रियों के शिष्य बनने के लिए भी सहर्ष तत्पर रहते थे। याज्ञवल्क्य के समय में देश के बौद्धिक जीवन में क्षत्रियों का बहुत बड़ा हाथ था, जो कि इस उत्साह के साथ इन कामों में योग देते थे, जिससे उनकी सच्ची लोकतन्त्रात्मक भावना तथा आत्मा के जगत् में सार्वजनीन भ्रातृत्व के प्रति उनकी लगन का

प्रमाण मिलता है, क्योंकि सभी लोग इस जगत् के स्वतन्त्र नागरिक हो सकते हैं। कई नरेशगण स्वयं विचारों के क्षेत्र के नेता थे और उनके पास विद्यार्थी उन सत्यों का उपदेश पाने पहुँचते थे, जिनके कि वे भण्डार थे, जैसे कि—विदेह के जनक, काशी के अजातशत्रु, पंचाल देश के प्रवहण जयवलि, अथवा अश्वपति कैकेय। किन्तु, स्वयं शिक्षक के रूप में ज्ञान का प्रसार करने के अतिरिक्त वे विद्यार्थियों को उदारता के साथ सहायता देकर अप्रत्यक्ष रूप से भी विद्या की वृद्धि करते थे, और ऐसे राजाओं में विदेहराज जनक सबसे प्रमुख थे। उन्हें अन्य राजाओं की तरह शिकार आदि में नहीं बल्कि विद्वानों के साथ उठने-बैठने में ही आनन्द मिलता था, जिस प्रकार आगे चलकर सम्राट् अशोक ने भी आमोद-प्रमोद के लिए की जाने वाली यात्राओं का स्थान धार्मिक कार्यों और तीर्थ-यात्राओं को दे दिया था। त्योहारों के अवसर पर राजा जनक विभिन्न भागों से विद्वानों को आमन्त्रत करके उनके सम्मेलन करते थे और वाद-विवाद में निपुणता तथा अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले विद्वानों को भरपूर इनाम देते थे, और उन्हें स्वयं तर्कसंगत विवाद सुनने में ही आनन्द मिलता था। इस प्रकार राजाओं के दरबारों में विद्वानों की सभाओं द्वारा भी देश के बौद्धिक जीवन को प्रोत्साहन मिलता था। अन्त में, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस बौद्धिक-जीवन में भाग लेने से स्त्रियों को अलग नहीं रखा गया था। उन्हें सार्वजनिक सभाओं और विद्वानों के सम्मेलनों में सक्रिय रूप से भाग लेने तथा अपने दार्शनिक विचारों को प्रतिपादित और स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। जब कि गृह-जीवन के एकान्त में उन्हें अपने पतियों के साथ संस्कृति और ज्ञान के क्षेत्र में पूर्ण समता प्राप्त थी, आध्यात्मिक जीवन की समस्याओं व सत्यों के अन्वीक्षण में वे अपने पतियों का साथ दे सकती थीं। स्वतन्त्रता और आध्यात्मिकता के इसी वातावरण में भारत में मानव-बुद्धि सत्य की खोज और जीवन के रहस्यों के समाधान में महानतम विजय प्राप्त कर पाई थी।

गौतम बुद्ध

प्राचीन भारत का असाधारण रूप से विशाल और विभिन्न साहित्य होते हुए भी सही अर्थों में उस समय के ऐतिहासिक अभिलेखों का बड़ा अभाव है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि हिन्दू विचार-धारा में जीवन और उसके क्षणिक अध्यवसायों को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता था जितना कि पश्चिमी देशों में दिया जाता है। भारतीय इतिहास के महापुरुष केवल उन आदर्शों के कारण गण्यमान्य थे जिनका वे पालन करते थे, न कि अपने जीवन के वैयक्तिक पहलुओं और उसकी विभिन्न घटनाओं के कारण। उनके विचार, कथन अथवा उपदेशों के विवरण रखे गए हैं, किन्तु उनके प्रत्यक्ष कार्यों के नहीं। सत्य के अनुवर्तक से अधिक सत्य और उपदेशक से अधिक उपदेश का मूल्य समझा जाता था। इसी कारण ब्राह्मणों और उपनिषदों का बृहत् साहित्य ऋषियों की मान्यताओं और उनके कर्मकाण्डों, उनके सिद्धान्तों तथा उनके द्वारा किये जाने वाले यज्ञादि के वर्णनों से परिपूर्ण होते हुए भी उनके अपने निजी व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में सम्पूर्णतः मौन है। इसी प्रकार, उत्तरकालीन समय में भी वाल्मीकि, व्यास अथवा कालिदास की कृतियों का, शंकर या रामानुज, कबीर या नानक के सिद्धान्तों का व्यापक रूप से अध्ययन तथा पालन किया जाता था और कहीं-कहीं तो इन सिद्धान्तों पर विस्तृत टिप्पणियाँ भी मिलती हैं, परन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कितनी थोड़ी बातें मालूम हैं! प्राचीन भारतीय साहित्य में जीवनी नाम का विषय प्रायः है ही नहीं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से

इस अभाव के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह अभाव समस्त विज्ञान का एक विशिष्ट गुण है जिसमें अतीत के खण्डित प्रमेयों व त्रुटिपूर्ण यन्त्रों की अपेक्षा सैद्धान्तिक रूप से सिद्ध एवं व्यावहारिक रूप से उपयोगी सत्यों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। वास्तव में विचार व कला की ऐतिहासिक विवेचना के मूल्य को बढ़ाकर प्रस्तुत करना आसान है। डॉ० बोसानक्वे ने इस प्रकार की प्रचलित प्रवृत्तियों के प्रति एक अच्छी, यथोचित चेतावनी दी है [गिफर्ड लैक्चर्स, १९१२, पृष्ठ ७८] : "इतिहास अनुभव का एक वर्णसंकर रूप है जिसमें अस्तित्व या सत्य की क्षमता लगभग नगण्य होती है। क्रमिक घटनाओं की इस सन्दिग्ध कहानी का सामाजिक विचारों, कला अथवा धर्म की सम्पूर्ण व्याख्या के साथ मिश्रण नहीं हो सकता। वे महान् बातें, जो स्वतः आवश्यक हैं, वर्णन में अनिश्चित बन जाती हैं अथवा मेधा के अति-सन्दिग्ध अनुमानों द्वारा उनका श्रेय ऐतिहासिक रंगमञ्च के इस या उस पात्र को दिया जाता है। ईसाई मत का अध्ययन एक महान् विश्व-अनुभव का अध्ययन है; उसके विकास में किन व्यक्तियों का कितना योगदान है यह विद्वानों की समस्या है, और उनके निष्कर्ष मानवता के लिए विशेष महत्त्व रखते हुए भी सर्वोच्च महत्त्व कभी नहीं रख सकते।" 'भगवद्गीता'-जैसे महान् ग्रन्थ के लाखों पाठकों के लिए उसके रचयिता, उसकी रचना-तिथि, प्रामाणिकता तथा मौलिक शुद्धता-सम्बन्धी प्रश्न नहीं उठते। वह ताजमहल की तरह है जिसके सौन्दर्य की सराहना करते समय उसका निर्माण करने वाले शिल्पकारों तथा उसका व्यय उठाने वाले राजाओं के नाम की सुध नहीं रहती।

इसी प्रकार, गौतम बुद्ध-जैसे महान् व्यक्ति की जीवनी के सम्बन्ध में भी, जिनकी शिक्षाओं को मानव जाति का प्रायः चौथाई भाग मानता है, केवल कुछ ऐसे बिखरे हुए तथ्य उनके उपदेशों के प्रसंग में मिलते हैं जिन्हें जोड़कर उनकी जीवन-कथा बनाई जा सकती है, पर फिर भी जिसे सही अर्थ में जीवन-कथा नहीं कहा जा सकता। उनके जीवन-काल

के बहुत बाद की कुछ कृतियों में, जैसे कि संस्कृत की 'ललित-विस्तर' में, भगवान् बुद्ध के जीवन को उस रूप में प्रस्तुत किया गया है जो कि उनका और उनके कृत्यों का वास्तविक रूप न था, बल्कि जैसा कि एक बुद्ध को होना चाहिए; इसमें इतनी अधिक मात्रा में चामत्कारिक तथा अलौकिक बातें जोड़ दी गई हैं कि उसकी तुलना अंग्रेजी के महान् कवि मिल्टन की प्रख्यात रचना 'पैरेडाइज़ रिगेन्ड' से की जा सकती है। उनके जीवन की अधिक विश्वसनीय झाँकी पालि की कुछ अधिक प्राचीन पुस्तकों (जिनमें 'विनय' और 'सुत्त' प्रमुख हैं) के उन अंशों से मिल सकती है जिनमें यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने कौन-सा नियम किन परिस्थितियों में बनाया और कौन-सा उपदेश किस अवसर पर दिया। किन्तु बुद्ध की जीवनी के दोनों उपर्युक्त स्रोतों की सावधानी के साथ परीक्षा व तुलना करनी होगी, विशेषतः उन तथ्यों को ढूँढ़ निकालने के लिए जो कि दोनों स्रोतों में मिलते हैं और इसलिए अधिक विश्वसनीय हैं, और जो कि बुद्ध के जीवन के पूर्णतः वास्तविक तथ्य न होते हुए भी उस समय के बौद्धों के मत में वास्तबिक ही थे। डॉ० रिस डेविड्स ने ठीक ही कहा है ('बुद्धिज़्म' पृष्ठ १६) कि हमको "अद्-भुत चमत्कारों में विश्वास रखने वाले साक्षी के प्रमाण को सम्पूर्णतः अस्वीकार नहीं करना चाहिए," और साथ ही "यह मानना भी गलत है कि गौतम बुद्ध का समस्त जीवन ही एक कपोल-कल्पना है और यह कि बौद्ध-दर्शन अथवा उससे भी शक्तिशाली बौद्ध भिक्षुओं का संघ किसी पौराणिक कल्पित कथा के आधार पर उत्पन्न हुआ है," जैसा कि कुछ नास्तिकों का विश्वास है और जिसका ओल्डेनबर्ग ने बड़े प्रभाव-शाली ढंग से खण्डन किया है ['बुद्ध', अंग्रेजी अनुवाद १८८२, पृष्ठ ७२]। डॉ० रिस डेविड्स आगे चलकर कहते हैं : "महात्मा बुद्ध के जीवन के बारे में जो कथा प्रचलित है उसका निश्चय ही एक ऐतिहासिक आधार था; और यदि यह पूछा जाय कि क्या सत्य और मिथ्या को अलग करना सम्भव है तो मैं कहूँगा कि यद्यपि यह काम बहुत कठिन

है पर इस कठिनाई को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने की प्रवृत्ति है। बुद्ध-सम्बन्धी कथाएँ सुनाने वाले लोग जालसाज़ नहीं बल्कि सीधे-सादे लोग हैं जिनके सोचने के तरीकों के साथ हम बहुत-कुछ सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं।" इन कथाओं में से चामत्कारिक एवं मिथ्या तत्त्वों के आवरणों को हटाने के बाद एक ऐतिहासिक बीज-केन्द्र रह जाता है।[1] जिसके द्वारा हम बुद्ध के जीवन को मूर्त एवं यथार्थ विवरणों के साथ एक वास्तविक मनुष्य के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं न कि उन अस्पष्ट धूमिल व्यक्तित्वों के रूप में जिनके बारे में हम वैदिक साहित्य में पढ़ते हैं।

नवीनतम धारणा यह है कि[2] गौतम बुद्ध का जन्म शाक्य-वंश के

१. बौद्ध-परम्परा के प्रतिपादन के आम सवाल पर जीजर की निम्न टिप्पणियों की तुलना कीजिए (महावंस, भूमिका, पृ० १४) :

"मैं अपने-आपसे नहीं छिपाता कि परिस्थिति का यह मूल्यांकन स्वयं को कटु आलोचना के लिए खुला छोड़ देता है कि हमारा सिद्धान्त साधारणतया, चमत्कारिणी किंवदन्तियों को परम्परा से हटाना और वास्तविक इतिहास के रूप में जो कुछ बच जाता है, उस पर विचार करना है। लेकिन मेरे विचार से विन्डिश ने बड़े अच्छे ढंग से कहा है कि वास्तव में, बौद्ध परम्परा में, तत्सम्बन्धी एक छोटे-से केन्द्र-बिन्दु के चारों ओर सभी प्रकार के परिशिष्ट समय के भीतर कैसे एकत्र हुए जिनके द्वारा वास्तव में साधारण घटनाएँ, धीरे-धीरे आश्चर्यजनक घटनाओं में बदल दी गईं। 'लेकिन हम केवल इसी कारण, सब किंवदन्तियों की उपेक्षा नहीं कर सकते। यहाँ भी विज्ञान का काम है कि सत्य के अंश को स्पष्ट करे। और केवल यही नहीं, बल्कि उसे इन किंवदन्तियों की परम्परा के अर्थ और महत्त्व की खोज करनी चाहिए, जो केन्द्र-बिन्दु के आस-पास इकट्ठी हुई हैं। प्रायः परम्परा गहरे विचारों को ढके रखती है।' "

२. यह धारणा प्रसिद्ध हाथीगुम्फ गुफा में खारवेल द्वारा खुदवाये

क्षत्रिय राजा शुद्धोदन के यहाँ लगभग ६२३ ई० पू० में हुआ था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शाक्य-राज्य राजतन्त्र था अथवा एक प्रकार का प्रजातन्त्र। एक ओर हम उनके पड़ोसी राजा कोसल के पसेनदि के बारे में पढ़ते हैं कि वह अपनी पत्नी के रूप में विशुद्ध शाक्य-वंश की कन्या चाहता था, और अपनी कुलीनता पर गर्व करने वाले शाक्यों ने एक दासी की पुत्री, जिसका पिता शाक्य था, उसे भेजकर उसकी इस प्रार्थना को आंशिक रूप से पूरा किया और दूसरी

हुए कुछ वाक्यों की बहुत मान्य विवेचना का परिणाम है, जिसके अनुसार राजा खारवेल, चन्द्रगुप्त मौर्य के लगभग १७८ वर्ष पश्चात् आता है (३२२ ई० पू० या कुछ के मतानुसार ३२५ ई० पू०।) यह भी कहा जाता है कि वह एक नन्द राजा के ३०५ वर्ष पश्चात् आया जिसने इस प्रकार लगभग ४५२ ई० पू० में राज्य किया होगा। उस समय के राजाओं के राज्य-काल के लिए पुराणों में दी हुई संख्याएँ मानते हुए हम ४५२ ई० पू० में महानन्दिन को राज्य करता हुआ पाते हैं। उसके बाद हम एक महत्त्वपूर्ण सचाई पर आते हैं कि उसी शैशुनाग राजवंश के उसके पूर्वज, राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु ने जो दोनों ही बुद्ध के समकालीन थे, ६११ से ५५६ ई० पू० के बीच राज्य किया। इस प्रकार हम इस स्थिति में हैं कि बुद्ध की मृत्यु के सम्बन्ध में परम्परागत सीलोन-तिथि को मान लें, अर्थात् ५४४ या ५४३ ई० पू०; और जबकि वह लगभग ८० वर्ष जिये, उनका जन्म-दिन लगभग ६२३ ई० पू० में होता है। [देखिए JBORS, दिसम्बर १९१७, ज्ञानी विद्वान्, सर्वश्री जायसवाल और बैनर्जी द्वारा खुदाइयों के संस्करण के लिए वी० ए० स्मिथ का JRAS, जुलाई १९१८ में लेख और 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', पृ० सं० ४८ और ५८ एन०] परम्परा ने अजातशत्रु द्वारा राजमुकुट पर, बुद्ध की ७२ वर्ष की अवस्था में अधिकार करवाया है। (देखिए, कर्न), और इस प्रकार उसने ५५१ ई० पू० से राज्य किया होगा।

ओर कपिलवस्तु के सभा-भवन में बैठकर[1] न्याय एवं प्रशासन का कार्य करने वाली शाक्यों की विधान-सभा के बारे में पढ़ते हैं (अंगुत्तर निकाय iii, ४७)। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध का जन्म एक धनी और समृद्ध परिवार में हुआ था, और उनके पिता को कभी राजा और कभी राजा के चचेरे भाई भद्दिय[2] कहकर सम्बोधित किया गया

१. 'दीघ निकाय' के **अम्बट्ठ सुत्त** में एक स्थान पर सभा-भवन में विचार-विमर्श के लिए भव्य आसनों पर बैठे हुए युवा तथा वृद्ध शाक्यों का उल्लेख आता है। **सोणदंड सुत्त** तथा **कूटदंत सुत्त** में कुछ प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिनमें ब्राह्मणों को बुद्ध के प्रतिष्ठित कुल का होने के दावे पर विचार करते हुए यह कहते हुए बताया गया है कि उनका जन्म कुलीन तथा धनी परिवार में तो हुआ था पर राज-परिवार में नहीं। **अग्गञ्ञ सुत्तांत** में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है: "अब शाक्य राजा पसेनदि की प्रजा हो गए हैं। वे उन्हें नज़राना देते हैं और आदर पूर्वक उनका अभिवादन करते हैं, उनके सामने वे उठकर खड़े हो जाते हैं और शीश नवाकर नमस्कार करते हैं और बड़ी धूमधाम के साथ उनका स्वागत करते हैं।" क्या यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि शाक्य राज्य कोसल के निकटवर्ती शक्तिशाली राज्य में विलीन हो गया था? **संयुत्त निकाय,** ७९, से इस बात की और पुष्टि हो जाती है; उसमें राजा पसेनदि को शाक्य सामन्तों-जैसे अन्य पाँच राजाओं में प्रधान, अर्थात् महाराजा, कहा गया है।

२. **चुल्लवग्ग** (vii, १) में कहा गया है कि संन्यास ग्रहण करते समय उन्होंने कहा था, "प्रतीक्षा करो, मैं **राज्ज** अपने पुत्रों तथा भाइयों को सौंप दूँ।" शंका **राजा** अथवा **राज्य** शब्द के वास्तविक अर्थ के बारे में है, जिसका अर्थ राजा के वंशगत पद के बजाय रोमन सभासदों (कौंसल) के पद-जैसा कोई अस्थायी तथा निर्वाचन द्वारा प्राप्त पद हो सकता है। शुद्धोदन अथवा भद्दिय राजा थे, पर अजातशत्रु की भाँति महाराजा नहीं थे।

है। प्रचलित कथाओं में बुद्ध को एक जन्मजात राजकुमार माना गया है, पर हो सकता है कि परम्परा उनके घर व सामाजिक स्थिति को बढ़ाकर पेश करना चाहती हो ताकि उनके त्याग का मूल्य भी बढ़ जाय।

शाक्य-राज्य के पूर्व में लिच्छवि राज्य-मण्डल और मगध-राज्य, पश्चिम में कोसल-राज्य और उत्तर में रोहिणी नदी थी, जिस पर वह सिंचाई के लिए निर्भर था। नदी के दूसरी ओर बसने वाली कोलिय जाति से कलह का यह एक बड़ा कारण था। इस कलह को कुछ समय के लिए वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा शान्त-समाप्त कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप शाक्यराज शुद्धोदन ने कोलियराज की महामाया और महाप्रजापती गौतमी नामक दो पुत्रियों से विवाह किया। महामाया ने अपने पिता के घर, देवदह, जाते समय मनोहर लुम्बिनी कुञ्ज में एक साल के वृक्ष के नीचे पैंतालीस वर्ष की आयु में बुद्ध को जन्म दिया। बुद्ध का जन्म-स्थान एक अशोक-स्तम्भ द्वारा ढूँढ़ लिया गया है, जिस पर लिखा है: "यहाँ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था।"

माता और बालक को कपिलवस्तु में शुद्धोदन के यहाँ लौटा दिया गया। जन्म के पाँच दिन बाद बालक बोधिसत्व का नाम सिद्धार्थ रखा गया; उसके सात दिन बाद उसकी माता का देहान्त हो गया, और उसकी मौसी प्रजापती ने उसका पालन-पोषण किया।

उसे प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा के लिए विश्वामित्र नामक एक गुरू के यहाँ भेजा गया, जिसे कि कहा जाता है, उसने लेखन की विभिन्न शैलियों के अपने ज्ञान से हतप्रभ कर दिया। तदुपरान्त "राम और धज, लक्खण और मन्ति, यन्न और सुयाम, सुभोग और सुदत्त" नामक आठ गुरुओं ने और "उदिच्च प्रदेश (उत्तर-पश्चिम) के सब्बमित्र नामक कुलीन ब्राह्मण ने भी, जो कि भाषा-शास्त्रज्ञ और वैयाकरण, और छः वेदांगों का ज्ञाता था; उसे शिक्षा दी, जिसे बुलाकर शुद्धोदन ने अपने पुत्र को शिक्षार्थ सौंप दिया।" (मिलिन्द पन्ह vi, ६, ३)

वह शारीरिक व्यायामादि के प्रति भी उदासीन न था। उसे "बारह

कलाओं" में, विशेषतः धनुर्विद्या में अर्जुन तरह निपुण बताया जाता है और कहा जाता है कि सब शाक्य-युवकों को खुल्लम-खुल्ला ललकार-कर उसने अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी। अर्जुन की तरह ही अपनी विजय के पुरस्कार में अपने ममेरे भाई सुप्रबुद्ध की पुत्री कोलिय राजकुमारी यशोधरा उसे मिली, जिससे उसने सोलह वर्ष की आयु में विवाह कर लिया। पराजित युवकों में देवदत्त नामक उसका एक और रिश्ते का भाई भी था, जो अपनी हार कभी न भूल पाया और बड़ा होकर बुद्ध का महान् शत्रु बना।

दस वर्षों से अधिक वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के बाद उनके राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। नगर में समारोह मनाया जाने लगा, पर बुद्ध विचारमग्न हो गए; क्योंकि यह पुत्र वह बन्धन बनकर आया था, जिसने संसार के साथ उन्हें बाँध दिया था। उन्हें पुत्र-जन्म का समाचार नदी-किनारे एक उद्यान में मिला था और घर लौटते समय सुनाई देने वाली जय-जयकार में कुमारी किसा गौतमी नामक अपनी रिश्ते की बहन के इस गीत ने उन्हें आकृष्ट किया : "सुखी हो पिता, सुखी हो ऐसे पुत्र की माता, सुखी हो ऐसे पति की पत्नी।" "सुखी" शब्द, किन्तु, उनके लिए एक भिन्न अर्थ रखता था। उन्हें उस वास्तविक सुख का बोध हुआ, जो कि कामना, पाप, दुःख और पुनर्जन्म के बन्धनों से 'मुक्त' होने से प्राप्त होता है। और इस प्रकार उस कन्या ने उन्हें सर्वोच्च सत्य का बोध कराया और पुरस्कारस्वरूप उनसे मोतियों का एक कंण्ठहार प्राप्त किया, जिसे उस मूर्ख लड़की ने प्रेम का चिह्न समझा।

कहा जाता है कि उसी रात अपने जीवन के उन्तीसवें वर्ष में गौतम "गृह-त्याग करके अनागरिक हो गए।" किन्तु उनके गृह-त्याग और सम्बधित परिस्थितियों के विभिन्न विवरण मिलते हैं। अधिकांश विवरणों में उन्हें एक ऐसे सुखद वातावरण में अलग रहते बताया गया है, जो कि रोग, जरा और मृत्यु-जैसे जीवन के दुःखों से अछूता था। किन्तु ईश्वरीय इच्छा ने उन्हें इस प्रकार रहने न दिया। भाग्यवश,

उन्होंने इन दुःखों को क्रमानुसार साक्षात् रूप में देखा, और अपने सामने खड़े हुए एक संन्यासी के रूप में उन्होंने उन दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय भी देखा। किन्तु अधिक सत्य-विवरण सम्भवतः वह है, जिनमें स्वयं बुद्ध द्वारा उस घटना का वर्णन माना गया है। धन और वैभव के बीच ग्रीष्म, शीत और वर्षाकाल के लिए अपने तीन विभिन्न महलों में वास करते हुए बुद्ध सोचने लगे कि जरा; रोग अथवा मृत्यु से लोग कितने घबराते हैं। उन्होंने सोचा : "मैं भी नाशवान् हूँ और जरा, रोग व मृत्यु की शक्तियों से मुक्त नहीं हूँ। क्या यह उचित है कि जब मैं किसी को इस दशा में देखूँ तो मुझे भी भय, क्षोभ और घृणा अनुभव हो? और जब मैं इस प्रकार विचार करने लगा, मेरे शिष्यो, तो मेरे लिए जीवन का समस्त सुख समाप्त हो गया।" और इसी विषय पर एक अन्य प्रसंग में उन्होंने फिर कहा, "और तब मैंने अपने-आपसे कहा : "मैं स्वयं जन्म, विकास और क्षय, रोग, मृत्यु, शोक और कलंक के अधीन होते हुए भी क्यों उन चीज़ों के पीछे पड़ा हूँ, जो कि स्वयं जन्म, विकास और क्षय, रोग, मृत्यु, शोक और कलंक के अधीन हैं?" तो, शिष्यो, कुछ समय बाद, अपनी अल्पावस्था में ही, जब मैं काले केशों वाला पौरुषोन्मुखी युवक था, मैंने अपने सिर और दाढ़ी के केश काट डाले और अपने माता-पिता को रोता-बिलखता छोड़कर, पीत वस्त्र धारण करके घर से निकल पड़ा और मैंने प्रतिज्ञा की कि सदा अनागरिक-जीवन व्यतीत करूँगा।" [मज्झिम निकाय, खण्ड २, पृष्ठ ५, अनुवाद शीलाचार]। एक और जगह पर निम्नलिखित वृत्तान्त मिलता है : "गार्हस्थ्य-जीवन सीमित और संकुचित है, एक गन्दी कोठरी है; किन्तु अनागरिक जीवन स्वयं स्वर्ग के उन्मुक्त वातावरण के समान है। घर में रहकर पूर्ण स्वच्छता के साथ सम्पूर्णतः पवित्र जीवन-निर्वाह करना कठिन है। तो मैं कैसे अपने सिर और दाढ़ी के केश काटकर, पीत वस्त्र धारण करके, घर छोड़कर निकल पड़ा और कैसे मैंने अनागरिक जीवन व्यतीत करने का प्रण किया।"

[उपरोक्त, पृष्ठ ११]। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि बोधिसत्व के मन में क्रान्ति उत्पन्न होने का और सांसारिक जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न होने तथा उसका परित्याग करने के उनके निर्णय का एक-मात्र कारण रोग, दुर्बलता तथा मृत्यु का आकस्मिक साक्षात् नहीं था। सम्भवतः हुआ यह कि इस प्रकार की परिस्थिति ने इस परित्याग के प्रति उनके मन में पहले से ही उपस्थित क्रियात्मक प्रवृत्तियों को केवल बल प्रदान किया। किन्तु शोक और मृत्यु के रहस्यों को गहराई के साथ ग्रहण करने वाले उस मस्तिष्क की प्रवृत्तियों के अतिरिक्त भारतीय जीवन और विचार के उच्चतम स्तर पर ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ मौजूद थी, जिनके परिणामस्वरूप सत्य की खोज में समाज के सम्पन्न वर्गों के लोगों तक का संन्यास ग्रहण कर लेना एक सामान्य बात बन चुकी थी। बुद्ध ने केवल उसी पथ का अनुगमन किया, जिस पर प्राचीन भारत में सत्य की खोज करने वाले बहुत पहले से चलते आए थे। इस बात को बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान् डॉ० रिस डेविड्स ने बहुत अच्छी तरह समझा है: "समृद्धि और विलास के बीच उस तृष्णा तथा अभाव का अनुभव करने वाले प्रथम व्यक्ति नहीं थे—और अन्तिम व्यक्ति तो कदापि नहीं थे—वह तृष्णा और अभाव, जिसकी किसी भी प्रकार सन्तुष्टि नहीं हो पाती और जिन्होंने समस्त सांसारिक लाभ व आशाओं के आकर्षण को नष्ट कर दिया है यह अस्पष्ट असन्तोष जीवन की प्रत्यक्ष निस्सारता के प्रत्येक नूतन प्रमाण के साथ और भी बढ़ता जाता है, और जैसा कि गौतम के बारे में कहा जाता है, यह असन्तोष और भी अधिक प्रबल हो उठता है। वह अपनी किसी वैयक्तिक विपदा से उत्पन्न न होकर दूसरों के दुःखों के प्रति सम्वेदना से उत्पन्न होता है। दैनिक जीवन के कार्य असह्य हो उठते हैं, और इन व्याधियों से मुक्त तपस्वी का सौम्य जीवन शान्ति का निवास प्रतीत होता है, और आत्म-त्याग व गम्भीर चिन्तन के इस जीवन द्वारा जीवन के गूढ़ रहस्यों का कुछ समाधान हो सकता

है।" ['बुद्धिज़्म', पृष्ठ ३०]

इस सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण बात स्मरणीय है, जिसकी साधारणतः उपेक्षा की सकती है कि बुद्ध ने युवावस्था में न कि वृद्धावस्था में, अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ सांसारिक सुखों को भोग करते समय न कि सुखों से पूर्णतः तृप्त हो जाने पर, समृद्धि में जब कि प्रत्येक इच्छा-पूर्ति के लिए साधन उपलब्ध थे न कि दरिद्रता में जब कि खोने को कुछ नहीं होता, इस संसार का परित्याग किया था। अपने त्याग की व्याख्या करते हुए स्वयं बुद्ध ने इस सम्बन्ध में कहा है: "हे भिक्षुओ, मैं भी बोद्ध-प्राप्ति से पूर्व, जब मुझे पूर्णतः बोद्ध प्राप्त नहीं हुआ था, जब मैं उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था—जब मैं स्वयं जन्म, विकास और क्षय, रोग और मृत्यु, पीड़ा और कलंक के अधीन होते हुए भी उन्हीं वस्तुओं के पीछे पड़ा था जोकि इन समस्त व्याधियों के अधीन हैं, जैसे कि पत्नी और सन्तान, दास-दासियाँ, भेड़-बकरी, मुर्गी और सूअर, हाथी, गाय-भैंस, घोड़े-घोड़ी और सोना-चाँदी। और तब हे भिक्षुओ, मैंने सोचा: "यह मैं क्या कर रहा हूँ? स्वयं जन्म, विकास और क्षय, रोग, मृत्यु, पीड़ा और कलंक के अधीन होते हुए मैं उन्हीं चीजों की खोज में हूँ जो स्वयं इनके अधीन हैं। क्यों न मैं जन्म-रहित, क्षय-रहित, रोग-रहित, मृत्यु-रहित और कलंक-रहित अनुपम आश्वासन और माया से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ!' और हे भिक्षुओ, कुछ समय बाद, जबकि मैं काले केशों वाला तेजस्वी युवक था, युवावस्था के प्रथम वर्षों में सुखद यौवन का आनन्द ले रहा था, मैं अपने सिर और दाढ़ी के केश काटकर, जीर्ण वस्त्र धारण करके, अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध उन्हें रोता बिलखता छोड़ गृह त्यागकर अनागरिक बन गया।" और यही स्वीकारोक्ति बुद्ध ने अपने चचेरे भाई, महानाम से उस समय की है जिस समय कि वह शाक्य राज्य का कर्णधार बना: "और मैंने, महानाम, पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व, वासनाओं की तुच्छता को स्पष्ट देखा, किन्तु वासनाओं के बाहर भी चूँकि मुझे सुख न दिखाई पड़ा इसलिए

मैं यह नहीं जान पाया कि इन वस्तुओं से मुँह मोड़ लेना चाहिए।"
('मज्झिम निकाय', i, ६१ तथा उसके बाद के पृष्ठ)

सम्पूर्ण स्पष्टवादिता के साथ कहे हुए ये उदात्त शब्द, जिनके द्वारा बुद्ध ने अपने-आपको मानवोपरि चरित्र प्रदान करने से इन्कार किया है और स्वयं अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार किया है, स्वयं मानवोपरि हैं। पॉल डेल्वे ने ठीक ही कहा है: ['बुद्धिस्ट ऐसेज़', पृष्ठ १५] "इससे पहले किसी भी धर्म के संस्थापक ने कभी भी ऐसे शब्द नहीं कहे थे। ऐसे शब्दों के कहने वाले को स्वर्गिक आनन्द की आशाओं से लोगों को लुभाने की आवश्यकता नहीं। जो स्वयं अपने लिए ऐसी बात कहता है वह उसी शक्ति के बल पर लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है जिसके बल पर सत्य अपने साम्राज्य में पदार्पण करने वालों को आकृष्ट करता है।"

बुद्ध का संसार का त्याग देना भी कोई अनोखी अथवा अलौकिक बात न थी। इस प्रकार के त्याग के अनेकों उदाहरण उनके युग में पाए जाते थे और यह एक साधारण बात थी। हिन्दु-विचार-धारा का निचोड़ याज्ञवल्क्य के इन शब्दों में मिलता है: "ज्ञानवान् और बुद्धिमानों को सन्तान की इच्छा नहीं रहती; वे जिनका घर ही आत्मा है, सन्तान का क्या करेंगे? वे संतति की कामना, धन के लिए संघर्ष और सांसारिक सुखों की खोज छोड़कर तपस्वी बनकर निकल पड़ते हैं।" [बृ० उ०] इस प्रकार, वैराग्य वैदिक सिद्धान्तों का आवश्यक परिणाम था। ब्राह्मणों और उपनिषदों के युग में हमें भ्रमण करने वाले विद्वानों के रूप में संन्यासी मिलते हैं जो कि विचार तथा संयम की विभिन्न पद्धतियों वाले प्रसिद्ध शिक्षकों से वाद-विवाद करने व उनसे शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते थे। और इस प्रकार संन्यासियों के ये समूह आगे चलकर अपने-अपने गुरुओं व नेताओं के मतों का अनुसरण करते हुए भिन्न-भिन्न समुदायों व सम्प्रदायों में संगठित हो गए। बुद्ध के युग में सारा देश ऐसे धार्मिक सम्प्रदायों से भरा पड़ा था। ब्रह्मजाल सूत्र
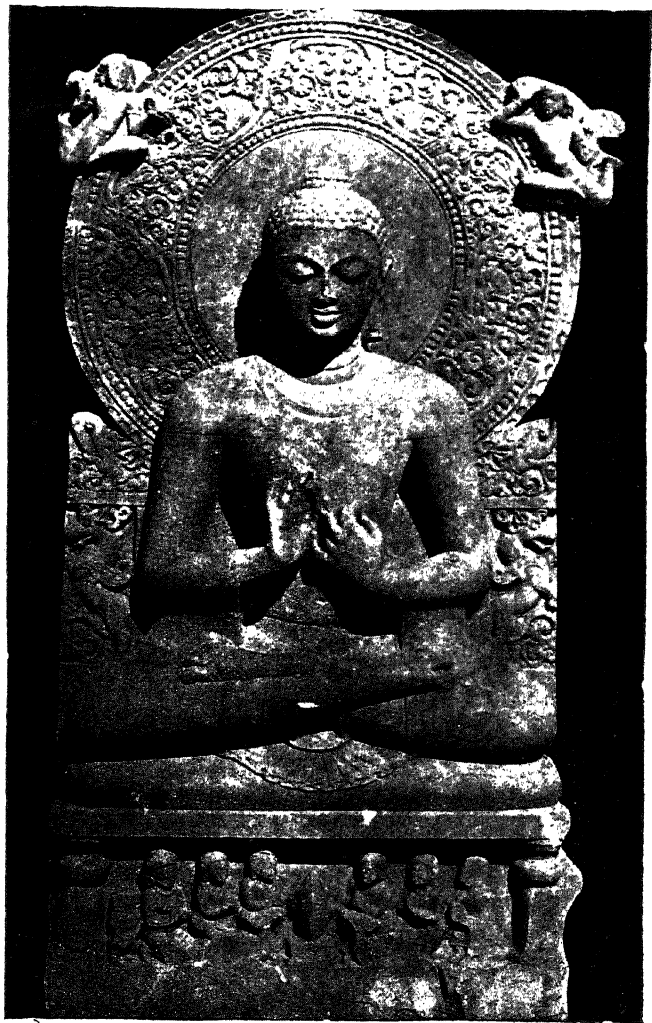
बुद्ध (सारनाथ)

['दिग्घनिकाय' i] में स्वयं बुद्ध ने इस प्रकार के "त्रुटिपूर्ण सिद्धान्तों" और पद्धतियों की आलोचना की है, जब कि कई जैन ग्रन्थों में इन पद्धतियों की संख्या ३६३ बताई गई है। वे प्रायः दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त थीं—ब्राह्मण और समण। ब्राह्मणों में तित्थिय, आजीविक, निगण्ठ, मुण्डशावक, जाठिलक, परिव्राजक, मागण्डिक, तेदण्डिक, एक-साठक (एक वस्त्र धारण करने वाले (संयुत्त निकाय), i, 799 अविद्धक, गोतमक (एक अन्य गोतम द्वारा संस्थापिक सम्प्रदाय), देवधम्मिक, चरक, अचेलक इत्यादि [जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६६८ पृष्ठ १४७, सुत्त-निपात] सम्प्रदाय थे, और पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल (आजीविक के संस्थापक), अजित, पकुध-कच्चन संजय, और निगण्ठ-नातपुत्र नामक प्रसिद्ध गुरु थे, जो बुद्ध के समकालीन[1] थे तथा दक्षिण के अस्सक प्रदेश का बावरी, सेल चंकिन, तारुक्ख, पोक्खारसाति, जानुस्सोणि, तोदेय्य आदि अन्य गुरु भी थे। ये ब्राह्मण गुरु अज्ञेयवादी अथवा भौतिकवादी और थे उन्हें वादशील (शास्त्रार्थ करने वाले), लोकामत, वैताण्डिक (धर्माधर्म का विचार करने वाले तथा कुतर्की) तेविज्ज, (तीनों वेदों अथवा विद्याओं के ज्ञाता), आदि कहकर सम्बोधित किया जाता था। संन्यासियों की समण नामक दूसरी व्यवस्था की भी चार श्रेणियाँ बताई गई हैं—मग्ग-जिन, मग्ग-देसिन, मग्ग-जीविन और मग्ग-दूसिन, और इनके पारस्परिक

१. इन्हें छः तित्थकर (सिद्धान्त बनाने वाले) कहा जाता है, जो आयु में बुद्ध से बहुत बड़े थे। देखिए (संयुत्त निकाय) i ६९ : "कारण यह कि (उनकी तुलना में) महात्मा गौतम आयु में बहुत छोटे हैं और धार्मिक जीवन के क्षेत्र में नवागन्तुक हैं।" यह बात कोसल के राजा पसेनदि ने कही है, जिन्हें हम (मज्झिम निकाय) ii १२४ में अपनी ही तरह अस्सी वर्ष के बूढ़े बुद्ध का सम्मान करते हुए पाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा पसेनदि बुद्ध के सबसे पुराने मित्रों तथा अनुयायियों में से थे।

मतभेदों के अनुसार इन्हें अनेकों विचार-धाराओं में विभक्त कर दिया गया है जिनकी संख्या ६३ बताई जाती है और जिन्हें बुद्ध के समय में दिट्ठ, अर्थात् विश्वास-भेद कहा जाता था।

तो संन्यासियों के इसी संसार में प्रवेश करने का युवक गौतम ने संकल्प किया।

आषाढ़ की पूर्णिमा को राजकुमार अपने शयन से उठे और अपनी पत्नी व पुत्र की ओर अन्तिम दृष्टि डाल राज्य-प्रासाद छोड़ उस विख्यात यात्रा पर निकल पड़े जिसके प्रत्येक चरण पर बहुमूल्य और कलात्मक स्मारक खड़े हैं और जिन्हें यात्रियों की अनेकों पीढ़ियाँ पुष्पों से विभूषित करती आई हैं। उनके सारथी छन्न ने उनके प्रिय अश्व कण्ठक पर जीन कसी और वह सवार होकर नगर से बाहर निकल गए। कोलिय-प्रदेश के पार अनोमा नदी अपने घोड़े समेत एक छलाँग में पार कर वह घोड़े पर से उतर पड़े और अपने सारथी व घोड़े को लौटाकर उन्होंने अपनी तलवार से अपने सिर व दाढ़ी के केश काट डाले और अपने सुन्दर बनारसी रेशम के वस्त्रों के स्थान पर पीतवस्त्र धारण कर लिए। और फिर अनुपिय नामक आम्र-कुन्ज में एक सप्ताह तक विश्राम करके वह एक ही दिन में मगध के राजा सेणिय बिम्बिसार की राजधानी राजगृह इस आशय से पहुँचे कि उन्हें शाक्य-प्रदेश की शुष्क बुद्धि की अपेक्षा गंगा की घाटी में अधिक अच्छे शिक्षक मिल सकेंगे। एक कथा के अनुसार राजा बिम्बिसार ने एक दिन बुद्ध को अपने महल से देखा और वह उनके व्यक्तित्व से इतना प्रभावित हुए कि उनसे मिलने आये। और अपना समस्त साम्राज्य उन्हें समर्पित करने लगे जिसे लेने से बुद्ध ने इन्कार कर दिया।

जन्मजात राजा के लिए भिक्षु का जीवन आसान न था। जब उन्होंने नगर में भिक्षा द्वारा प्राप्त अपना प्रथम भोजन खाना चाहा तो "उनका पेट गड़बड़ा गया और उन्हें ऐसा लगा कि उनकी अन्तड़ियाँ उनके मुँह से बाहर निकल आयँगी," "क्योंकि उन्होंने अपने जीवन में

ऐसा भोजन पहले कभी देखा तक न था" और अन्त में आत्म-भर्त्सना द्वारा उन्होंने "उस घृणित भोजन के प्रति अनिच्छा" की अपनी भावना को अपने वश में किया।

पहाड़ी गुफाओं में स्थित राजगृह, जो कि नगर अथवा भिक्षा पाने के स्थान से न बहुत पास था और न बहुत दूर, संन्यासियों के लिए एक सुविधाजनक निवास-स्थान था; और यहीं बुद्ध आलार कालाम नामक भिक्षु के पहले-पहल शिष्य बने। वह निश्चय ही अपने युग का एक विख्यात मनीषी था। उसकी एकाग्रता की महती शक्ति के सम्बन्ध में एक कहानी प्रचलित है—वह सड़क के किनारे समाधि लगाकर बैठ जाता और ५०० गाड़ियाँ उसके सामने खड़खड़ाती हुईं निकल जातीं, पर उसका ध्यान न टूटता (महाप्रज्ञा पारमिता सुत्त शास्त्र, iv. ३५)। उसने गौतम को नास्तिवाद का सिद्धान्त सिखाया। गौतम ने अपनी प्रगति का इस प्रकार वर्णन किया है—"मैं बहुत शीघ्र ही इस सिद्धान्त को सीख गया और जहाँ तक 'मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ' शब्दों को उच्चारण करने का सम्बन्ध था, मैं और मेरे अन्य साथी इस प्राचीन ज्ञान को भली-भाँति जानते थे। और तब मैंने सोचा कि जब आलार कालाम कहते हैं कि 'इस सिद्धान्त का मनन और आत्मसात् कर चुकने के बाद मैं उसकी प्राप्ति में लीन हो गया हूँ' तो यह केवल आस्था की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती; निश्चय ही आलार कालाम इस सिद्धान्त को आत्मसात् कर चुका है।"

प्राचीन भारत में ज्ञान केवल स्मरण, अध्ययन अथवा बोध का ही विषय न था; वह एक ऐसी वस्तु थी जिसे आत्मसात् करके अपने जीवन में उतारना पड़ता था। अतः बुद्ध भी उस सिद्धान्त में अपने गुरु तक पहुँचने का प्रयत्न करने लगे ताकि अन्ततः "उस ज्ञान को आत्मसात् करके उसके द्वारा जीवन-संचालन कर सकें।" उन्हें बहुत शीघ्र ही अपने प्रयत्नों में सफलता मिली और उनके गुरु को कहना पड़ा, "हमें प्रसन्नता है मित्र; सचमुच दुगुनी प्रसन्नता है कि हमें एक ऐसे सम्माननीय व्यक्ति

का, तुम्हारे-जैसे सह-तपस्वी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस सिद्धान्त को मैं जानता हूँ उसे तुम जानते हो, और जिसे तुम जानते हो उसे मैं जानता हूँ। जैसा मैं हूँ वैसे ही तुम हो, और जैसे तुम हो वैसा ही मैं हूँ। आओ मित्र, तुम और मैं मिलकर साधुओं के इस समूह का पथ-प्रदर्शन करें।" और इस प्रकार गुरु ने अपने शिष्य को "अपने समान स्तर पर स्थान देकर महान् सम्मान प्रदान किया।" किन्तु गौतम, जिनके लिए आध्यात्मिक विकास की कोई सीमा न थी, इस सिद्धान्त से सन्तुष्ट न रह सके। "सर्वोच्च सत्य और सर्वोच्च शान्ति के अनुपम पथ" की खोज में उन्होंने एक और गुरु को ढूँढ़ा और वहाँ पहुँचे जहाँ कि राम का शिष्य उद्दक रहता था, और उसे सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "मित्र, मैं इस अनुशासन और सिद्धांत के अन्तर्गत तपस्वियों का जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।" पहले की तरह ही उन्होंने उस सिद्धान्त को भी "जहाँ तक उसको मौखिक रूप से स्वीकार करने का प्रश्न था शीघ्र ही प्राप्त कर लिया" और तदुपरान्त उसमें इतनी प्रवीणता प्राप्त कर ली कि "उसे आत्मसात् करके उसके द्वारा जीवन-संचालन कर सकें।" उनके इस गुरु ने भी उन्हें अपने समान पद दिया; किन्तु इस ज्ञान की पूर्ण व्यापकता भी गौतम की आत्मा को सन्तुष्ट न कर सकी जो कि सर्वोच्च सत्य के लिए लालायित थी और सर्वोच्च शान्ति के पथ की अब भी खोज में थी। और इस प्रकार गौतम को अपने इन दोनों गुरुओं से विदा लेनी पड़ी। यहीं से ब्राह्मण और बौद्ध विचार-धाराओं के रास्ते अलग हो गए, जिसका मानव-जाति के धार्मिक इतिहास पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ा है। वोसंले ने ठीक ही कहा है, "यह सम्भव है कि यदि गौतम अपने प्रारम्भिक विचरण में ही सर्वोच्च सत्य के इन दो शिक्षकों से मिले होते तो प्राचीन संसार का समस्त इतिहास ही दूसरा होता।" (कन्सैप्ट्स ऑफ मोनिज़्म, पृष्ठ १६७)। किन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म में इतना सम्पूर्ण भेद नहीं है जितना कि बहुधा समझा जाता है। अपने ब्राह्मण गुरुओं

से योग की प्रशिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने और अधिक प्रगति करने के लिए स्वयं अपने पर निर्भर रहने का संकल्प किया, और बुद्ध-गया के वर्तमान मन्दिर के निकट उरुवेला वन में जाकर रहने लगे, वहाँ उन्हें "वृक्षों के बीच एक सुन्दर एकान्त स्थान दिखाई दिया, जहाँ कि निकट ही एक मनोहर एवं निर्मल जल-धारा बहती थी, जो बहुत गहरी नहीं थी और जिस तक आसानी से पहुँचा जा सकता था तथा चारों ओर खेत व घास के मैदान थे।" बुद्ध ने यह कहकर वहाँ रहने का तुरन्त ही निश्चय कर लिया कि "साधना के लिए यह उपयुक्त स्थान है।" आत्म-शमन का सिद्धान्त मानने वाला पूर्वकालीन बौद्ध धर्म आन्तरिक और आध्यात्मिक जीवन के सहायतार्थ प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य के प्रति उदासीन न था।

गौतम ने छः वर्ष इस आत्म-शिक्षण में व्यय किये, और उनके एकांत को दूर करने के लिए उनके पास केवल वे पाँच ब्राह्मण तपस्वी थे जो कि उनमें बुद्धत्व के चिह्न देखकर उनके साथ रह गए थे। कौंडण्य के नेतृत्व में पाँच साधुओं का वह समूह गौतम की "कोठरी झाड़ता-बुहारता, हर प्रकार की सेवा करता तथा सदा उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहता और सदा कहता रहता, अब यह बुद्ध बनने वाले हैं, अब यह बुद्ध बनने वाले हैं।"

उस समय के अपने जीवन को उन्होंने स्वयं अपने शब्दों में अधिक अच्छी तरह व्यक्त किया है। उन्होंने इस घरेलू मिसाल पर गौर करते हुए कि पानी में भीगी लकड़ी या नदी के किनारे पड़ी हुई लकड़ी में अपने-आप आग या लपट पैदा नहीं हो सकती, बल्कि केवल उसीमें हो सकती है जो कि सूखी और पुरानी हो, उन्होंने अपने मन में यह तर्क किया कि ज्ञान का प्रकाश उस व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता जो कि "अपने शरीर और अपनी वासनाओं से निवृत्त न हो, और जिसने, जहाँ तक वासनाओं का सम्बन्ध है, अपनी काम-लिप्सा, दुर्बलता, तृष्णा और ज्वर को सम्पूर्णतः अपने अन्तर से दूर न कर लिया हो। अतः उन्होंने

आत्म-संयम की पराकाष्ठा तक पहुँचने का संकल्प किया और विभिन्न प्रकार की योजनाओं पर अमल किया। पहले उन्होंने दाँत भींचकर और तालु में जीभ चिपकाकर अपने मन को अपने वश में कर लिया। दूसरे, अन्दर जाने वाली और बाहर निकलने वाली वायु को मुख, नासिका और कानों में क्रमशः रोककर और उस पर नियन्त्रण करके उन्होंने प्राणायाम का अभ्यास किया। तीसरे, केवल कभी-कभी एकाध ग्रास शाक-भाजी या दाल की खिचड़ी खाकर उन्होंने निराहार रहने का अभ्यास किया और अन्त में उनका शरीर बेहद दुबला हो गया, उनकी बाँहें सूखकर सेंठे-जैसी और रीढ़ एक बटी हुई रस्सी-जैसी बन गईं, उनकी आँखों की पुतलियाँ बहुत अन्दर को धँस गईं और उनकी चमक प्रायः जाती रही, उनके सिर की त्वचा धूप में सूखी हुई कच्ची लौकी की तरह सिकुड़कर रह गई।" जब मैं अपने पेट को छूता तो मेरे हाथ को रीढ़ की हड्डी का स्पर्श होता, और जब मैं रीढ़ की हड्डी पर हाथ फेरता तो पेट छूआ जाता, और शौचादि के लिए जाते समय मैं दुर्बलता से गिर पड़ता। जब अपने दुर्बल शरीर में पुनः कुछ बल लाने के लिए मैं अपने हाथ-पैर थपथपाता तो मेरे शरीर के रोएँ, जिनकी जड़ें तक सड़ चुकी थीं, मेरे हाथों में आ जाते, और यह सब अत्यधिक निराहार का परिणाम था।"

इन सब संयमों के अतिरिक्त एकान्तवास भी बहुत कठिन था। गौतम ने स्वयं स्वीकार किया है कि पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति से पहले वह यह अनुभव करते थे कि "जन-समूह से दूर एकान्त वनवासी का जीवन व्यतीत करना कितना कठिन है! एकान्तवास और एकान्तवास में आनन्द प्राप्त करना कितना दुःसाध्य है! जिस साधु ने मन की स्थिरता प्राप्त नहीं की है उसके लिए निर्जन वन कितने असह्य हो उठते हैं!" और आगे चलकर उन्होंने कहा है, "वे सब तपस्वी और साधु जो कि मन, वचन और कर्म से तथा अपनी जीवन-चर्या में अशुद्ध होते हुए ही सुदूर वनों में आश्रम बनाकर रहने लगते हैं, उनके मन में महान् भय

और आतंक समा जाता है" और "इस भय तथा आतंक पर विजय पाने के लिए गौतम वनों में वृक्षों के नीचे निर्जन समाधियों में जाते और इन भयावह स्थानों में सारी रात बिता देते ताकि वह भी उस भय तथा आतंक से परिचित हो सकें और उसका अनुभव कर सकें।" और फिर उन्होंने कहा, "और जब मैं वहाँ पहुँचा तो एक हिरन आया, एक चिड़िया ने एक पेड़ की टहनी को गिराया, हवा ने पत्तियों को खड़खड़ाया और मैंने सोचा : 'अब वह भय और आतंक आया।' और तब मैंने अपने मन में कहा : 'किन्तु मैं भय और आतंक की प्रतीक्षा में चुपचाप क्यों बैठा रहूँ? क्यों न भय और संकट आने के पूर्व ही उस पर विजय पाने के लिए अपने-आपको तैयार कर लूँ? क्यों न ऐसा करूँ कि जैसे ही वह भय और आतंक साकार हो मैं उसका सामना करूँ और उसे वश में कर लूँ?' और जब मैं टहल रहा था उसी समय वह भय और आतंक आया, पर न मैं चुपचाप खड़ा रहा, न बैठा और न लेटा, बल्कि टहलते हुए ही मैंने भय और आतंक पर विजय प्राप्त की। और जब मैं चुपचाप खड़ा रहता या बैठ जाता या लेट रहता, तो वह भय और आतंक फिर मुझे आ घेरता। किन्तु न मैं उठकर बैठा, न उठकर खड़ा हुआ और न चलने-फिरने लगा, बल्कि लेटे-लेटे ही मैंने उस भय और आतंक पर विजय प्राप्त की।"

उनके तपस्वी जीवन का एक विवरण और है। उन्होंने निम्नलिखित चारों प्रकार के संयमों का अभ्यास किया : (१) आहार और वस्त्र-सम्बन्धी कठोर संयम; (२) शरीर पर धूल जमने देने वाला कष्टकर संयम; (३) प्रत्येक जल-बिन्दु में समाहित सूक्ष्म कीटाणुओं के प्रति सजग रहने वाला संयम; और (४) एकांतवास का संयम, जिसके अन्तर्गत "किसी चरवाहे, घसियारे, लकड़हारे या वनवासी को देखकर एक वन से दूसरे वन, एक कुञ्ज से दूसरे कुञ्ज, एक पहाड़ी से दूसरी पहाड़ी में बचकर रहना होता है।" [मज्झिम निकाय]

इन तपश्चर्याओं से, जिन्होंने, जैसा कि गौतम ने ठीक ही समझा

था, पहले की समस्त साधनाओं को मात कर दिया था ('मज्झिम निकाय,' अनुवाद, पृष्ठ १०५, खण्ड २), उनका शरीर केवल दुर्बल होकर रह गया और आत्मा भी असन्तुष्ट ही बनी रही। उन्होंने सोचा : "इन कठोर संयमों का अभ्यास करने के बाद भी मैं मानवीय सीमाओं से परे नहीं पहुँच पाया हूँ, मैंने सर्वोच्च ज्ञान तथा अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने में विशेष प्रगति नहीं की है; क्या ज्ञान-प्रकाश प्राप्त करने का अन्य कोई साधन नहीं हो सकता ?" (उपरोक्त) उन्होंने फिर सोचा : "इतने अत्यधिक दुर्बल तथा जीर्ण-शीर्ण शरीर के साथ परम ज्ञान प्राप्त करना सुगम नहीं है। तो क्या मुझे कुछ पौष्टिक भोजन और चावल की खिचड़ी खानी चाहिए ?" तदनुसार उन्होंने "सार-पूर्ण भोजन व चावल की खिचड़ी खाना आरम्भ किया। यह देखकर उनके साथ रहने वाले वे पाँच साधु, जो कि इस आशा से उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगे थे कि वे सत्य की प्राप्ति के बाद उन्हें भी सत्य प्रदान कर सकेंगे, अब क्षुब्ध होकर उन्हें छोड़कर चले गए और आपस में कहने लगे : 'संयमी गौतम अब विलासप्रिय हो गए हैं; उन्होंने साधना छोड़कर सुख का जीवन अपना लिया है।' " उन्होंने वह स्थान तक छोड़ दिया और बनारस में इसिपटन नामक स्थान को चले गए।

अतः इस प्रकार आत्म-शमन के पथ को त्यागकर बोधिसत्व ने अपने भोजन के लिए भिक्षा माँगना आरम्भ किया और वैशाख की पूर्णिमा को एक वृक्ष के नीचे पहुँचे, जहाँ कि राज-कन्या सुजाता उस वृक्ष की पूजा करने आई हुई थी। वह पुण्णा नामक अपनी दासी के साथ एक सोने के कटोरे में खीर लाई थी, और उसने बुद्ध को वृक्ष-देवता समझकर खीर उन्हें दे दी। खीर का कटोरा लेकर वह निरंजरा नदी के तट पर पहुँचे, सुपतिट्ठित नामक स्थान पर उन्होंने स्नान किया और उस गाढ़ी मीठी खीर के ४९ भाग करके उसे खा लिया और संकल्प किया कि आगामी सात सप्ताहों तक कुछ न खायँगे। नदी-किनारे साल वृक्षों के एक हरे-भरे कुञ्ज में मध्याह्न का विश्राम करके संध्या को वह एक

बोधिवृक्ष के निकट पहुँचे; जहाँ उन्हें सोत्थिय (स्वस्तिक) नामक एक घसियारा मिला जिसने उन्हें आसन बनाने के लिए घास के आठ ढेर दिये। पूर्व की ओर मुख करके वे उस वृक्ष के नीचे पालथी मारकर बैठ गए और उन्होंने प्रण किया कि "चाहे मेरी त्वचा, मेरी नसें और हड्डियाँ गल जायँ; चाहे मेरे शरीर का समस्त मांस और रक्त सूख जाय, किन्तु मैं इस आसन से तब तक न हिलूँगा जब तक कि मुझे सर्वोच्च और परम ज्ञान प्राप्त न हो जायगा।" और फिर उन्होंने न भोजन किया, "न स्नान, न कुल्ला, न शौच" बल्कि अपने-आपको पूर्णतः ध्यान में लगा दिया, जो कि "एक साथ सौ वज्रों के टूट पड़ने पर भी भग्न न हुआ।" इस समाधि के प्रथम दिन ही पैंतीस वर्ष की आयु में, गौतम ने ज्ञान प्राप्त किया, अर्थात् वह स्वयं बुद्ध बन गए। किन्तु वह बोधि-वृक्ष के नीचे अपने आसन पर सात दिन तक बैठे रहकर "मुक्ति का सुख अनुभव करते रहे।" उन्होंने आगामी तीन सप्ताह भी बोधिवृक्ष के निकट ही व्यतीत किये। पाँचवें सप्ताह में वह अजपाल नामक चर-वाहे के वटवृक्ष के नीचे, छठे में मुचलिन्द वृक्ष और सातवें में राजा-यतन वृक्ष के नीचे पहुँचे, जहाँ कि सातवें सप्ताह के अन्तिम दिन, उत्कल से मध्यदेश अपनी ५०० गाड़ियों के साथ जाने वाले तपुस्स और भल्लिक नामक दो व्यापारियों ने उन्हें जौ की रोटी और मधु भोजन के लिए दिया। जब बुद्ध ने भोजन कर लिया तो उन व्यापा-रियों ने साष्टांग प्रणाम करके कहा, "बुद्धम् शरणम् गच्छामि, धम्मम् शरणम् गच्छामि : हमें जीवन-पर्यन्त अपने शिष्यों के रूप में स्वीकार कीजिए।" इस प्रकार वे दोनों बुद्ध के प्रथम शिष्य बने, यद्यपि वे दीक्षा पाने के बाद भी अपने-अपने कार्यों में लगे रहने वाले लोगों में थे।

किन्तु शीघ्र ही अपने धर्म का प्रचार करने के सम्बन्ध में बुद्ध के मस्तिष्क में एक प्रतिक्रिया हुई। अजपाल वृक्ष के नीचे लौटकर उन्होंने सोचा कि जिस सत्य को उन्होंने प्राप्त किया है "वह केवल विषमय-सुखों की खोज व उनके भोग में लगी हुई इस मानव-जाति के लिए

बहुत अधिक गूढ़ और गम्भीर है," और फिर उन्होंने विचार किया : "यदि दूर-दूर तक मैं अपने उपदेशों को प्रकाशित करता हूँ और यदि लोग उन्हें समझ नहीं पाते तो उसका फल मेरे लिए केवल दुःख और क्षोभ होगा।" किन्तु जब उन्होंने सोचा कि इस संसार में, "जो कि उस सरोवर की भाँति है जिसमें विभिन्न प्रकार के लाल, सफेद अथवा नील कमल जलमग्न रहते हैं या सरोवर के धरातल पर तैरते हैं," अनेक प्रकार के लोग हैं और सब ही "अधम, कुत्सित, मन्दबुद्धि व मूर्ख" नहीं होते, तो एक अधिक उदार विचार उनके हृदय में उदय हुआ। अन्त में, उन्होंने अपने निर्णय की इस प्रकार घोषणा की : "अनश्वरता के, देखो, मैं द्वार खोले देता हूँ। सुनने वालो, आओ, सुनो और समझो !" प्राचीन भारत के तपस्वी तथा उपदेशक समाज-विरोधी व आत्मनिष्ठ व्यक्ति नहीं होते थे; वे संन्यास द्वारा अधिक बलवती बनी हुई अपनी सामर्थ्य से संसार की सेवा करने के लिए ही संसार का परित्याग करते थे। सत्य का एकनिष्ठ अनुवर्तक अन्त में सत्य का उपदेशक बनता था और अपनी उस आध्यात्मिक सम्पदा में, जिसे वह व्यक्तिगत न समझकर सामूहिक सम्पदा समझता था, हम लोगों को भाग लेने के लिए आमन्त्रित करता था।

इस प्रकार बुद्ध का तपस्या का जीवन समाप्त हुआ; और पैंतीस वर्ष की आयु से अस्सी वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु के समय तक पैंतालीस वर्ष तक उन्होंने सक्रिय रूप से उच्चतम कोटि की समाज-सेवा में अपना जीवन व्यतीत किया। इस कार्य का इतिहास बौद्ध धर्म के प्रसार का इतिहास है, जो कि एक स्थानीय समुदाय के रूप में उदित होकर कुछ ही शताब्दियों में एक विश्व-धर्म बन गया।

आरम्भ में इस नये धर्म का मार्ग सुगम न था। बुद्ध ने अपनी स्वाभाविक, बल्कि अलौकिक उदात्तता के साथ अपने प्रथम गुरुओं को ही अपना प्रथम शिष्य बनाना चाहा, जो कि उनके विचार में "विद्वान् और समस्त दोषों से मुक्त" होने के कारण उनके सत्य को

"शीघ्र ही समझ सकते थे।" यही वह सर्वोच्चतम श्रद्धांजलि थी जो कि उनका भूतपूर्व शिष्य अपने गुरुओं को दे सकता था। किन्तु दुर्भाग्यवश आड़ार कालाम और उद्दक दोनों ही इस संसार से विदा हो चुके थे। और फिर बुद्ध ने, स्वभावतः, अपने उन पुराने पाँच साधु साथियों को उपदेश प्राप्त करने के लिए उचिततम पात्र समझा, जो कि अविश्वास और अश्रद्धा के साथ उन्हें छोड़कर बनारस में ब्राह्मणों के केन्द्र इसिपटन के हरिण-उद्यान में जाकर रहने लगे थे। अतः बनारस की ओर उन्होंने वह युगान्तरकारी कूच किया; जिसने मानवता के धार्मिक इतिहास पर बहुत गम्भीर प्रभाव डाला है। रास्ते में बोधिवृक्ष और गया के बीच उपक नामक एक नागा साधु उन्हें मिला और उन्हें सम्बोधित करते हुए उसने कहा : 'मित्र, तुम्हारे मुख पर शान्ति और सौम्यता विराज रही है, तुम्हारा शरीर निर्मल और दीप्तिमान है। कहो बन्धु, तुमने किससे शिक्षा पाई है, तुम्हारे गुरु का क्या नाम है, तुम किसके मत के अनु-यायी हो?' बुद्ध ने उत्तर में कहा कि उन्होंने सब-कुछ त्यागकर स्वयं शिक्षा पाई है। कुटिल-बुद्धि उपक बोला, "हो सकता है, मित्र; हो सकता है," और सिर हिलाते हुए वह एक पास की सड़क में मुड़कर चल दिया। यह उन अत्यन्त अल्प उदाहरणों में से है जहाँ कि बुद्ध अपना मतानुयायी बनाने में असफल रहे।

संध्या-समय वह अपने उन पुराने पाँच साथियों की खोज में, जो कि उन पर अपने पथ से विचलित होने के कारण अविश्वास करके चले आए थे, बनारस के हरिण-उद्यान में पहुँचे। अतः दीक्षा देने के लिए बुद्ध को उनसे बुरे शिष्य नहीं मिल सकते थे। बुद्ध ने भी जान-बूझकर उन्हींको सर्वप्रथम उपदेश देना चाहा, अपने माने हुए निन्दकों को अपना प्रथम शिष्य बनाना चाहा ताकि उनके अपने सिद्धान्त की अधिक बड़ी विजय हो सके। उन्होंने बड़े आतिथ्य-भाव के साथ बुद्ध को आसन दिया और उनकी बात सुनी, और इस प्रकार बुद्ध के प्रथम प्रवचन के साथ बौद्ध चक्र (धर्म-चक्र-प्रवर्तन) सदा के लिए चल पड़ा। तह प्रवचन योगासक्ति

और आत्मवशमन के गुणागुण के प्रति श्रोताओं की शंकाओं का समाधान करने के लिए किया गया था, जिसमें इन दोनों उग्र पंथों का बहिष्कार करके बुद्ध ने एक मध्यम पथ का प्रदर्शन किया था जो कि निम्नलिखित आठ तत्त्वों से बना है—

१. सम्यग्दृष्टि
२. सम्यक्संकल्प
३. सम्यग्वाक्
४. सम्यक्कर्म
५. सम्यगाजीव
६. सम्यग्व्यायाम
७. सम्यक्स्मृति
८. सम्यक्समाधि

इस श्रेष्ठ 'उदात्त अष्टांग मार्ग' की प्रेरणा 'चार श्रेष्ठ सत्यों' (आर्य सत्यानी) द्वारा मिली थी, जो कि दुःख, दुःख का कारण, दुःख की समाप्ति और दुःख की समाप्ति की ओर ले जाने वाला पथ, बताये जाते हैं।[1]

१. भगवान् बुद्ध का प्रथम उपदेश बौद्ध मत के आधारों का द्योतक है। इसमें विरक्ति की नहीं बल्कि मुक्ति की शिक्षा दी गई है। पाप अथवा दुःख के अस्तित्व को केवल उसे दूर करने के उद्देश्य से स्वीकार किया जाना चाहिए। पाप के बिना मुक्ति का विचार उत्पन्न ही नहीं हो सकता, क्योंकि सुखी संसार को मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इस आपत्ति का उत्तर कि बौद्ध मत जीवन के पापों को स्वयं जीवन का अन्त करके दूर करना चाहता है, अष्टांग मार्ग में मिलता है, जो आधुनिक विश्व को अच्छे जीवन की एक व्यावहारिक योजना के रूप में अन्य भारतीय विचार-धाराओं द्वारा प्रस्तावित मोक्ष के मार्गों की अपेक्षा जैसे ब्राह्मणों के पूजा-पाठ या प्रायश्चित्त तथा आत्म-संयम की विधियाँ या छः तीर्थंकरों के नाम से सम्बद्ध दार्शनिक वाद-विवाद की

बुद्ध के इस प्रवचन का तात्कालिक प्रभाव उन ब्राह्मणों के नेता कोण्डञ्ञ (कौण्डिण्य) पर पड़ा, और उन्हें तुरन्त अन्तर्ज्ञान प्राप्त हो गया। अगले दिन वप्प (वाप्प) और आगामी तीन दिनों में भद्दिय (भद्रिक), महानामन और अस्सजी (अश्वजीत) क्रमानुसार अनेक अनुयायी बने। बुद्ध ने निम्नलिखित शब्दों में उन्हें दीक्षा दी, "ऐ साधुओ, निकट आओ; कितना सुन्दर सदुपदेश है! पवित्रता के मार्ग पर चलकर समस्त दुःखों का अन्त कर दो।" और इस प्रकार उन पाँचों ने मिलकर बौद्ध संघ की स्थापना की। पाँचवें दिन बुद्ध ने उन्हें "प्रत्येक सांसारिक वस्तु की नश्वरता एवं अस्थायित्व" (अनन्तलक्खण-सुत्तान्त) पर एक अन्य व्याख्यान दिया, जिसको समझ लेने से पाँचों साधुओं ने सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। एक कथा के अनुसार "उस समय सारे संसार में केवल छः पवित्रात्मा थे"—ये पाँच और एक बुद्ध।

बुद्ध के अनुयायियों की अब संख्या बढ़ने लगी। पहले पाँच तो धार्मिक वृत्ति के लोग थे। किन्तु अब धर्मनिरपेक्ष वर्गों के लोग भी

अपेक्षा अधिक स्वीकार्य होगी। बुद्ध के अष्टांग मार्ग के दूसरे तथा सातवें सूत्रों को देखते हुए उसे पूर्णतः बाह्य तथा व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता; न ही वह इच्छा-शक्ति की अवहेलना करता है; क्योंकि चौथे, पाँचवें तथा छठे सूत्रों से पता चलता है कि बौद्ध मत कोई काल्पनिक, आत्मगत, अव्यावहारिक धर्म नहीं है। ८वें सूत्र में धैर्यवान भक्त को इस जीवन में ही उसके लक्ष्य की प्राप्ति—अलौकिक दर्शन—का आश्वासन दिया गया है। "इस मार्ग की नकारात्मक बातें भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें कहीं पूजा-पाठ, तपस्या, एक अथवा अनेक देवताओं का या स्वयं बुद्ध का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वह सत्य की खोज करने वाले तथा उनकी शिक्षा देने वाले के रूप में ही आते हैं; इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व की कोई भूमिका नहीं है।" (एलियट, '**हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म**')

उनके अनुयायी बनने लगे। बनारस के एक धनी महाराज का पुत्र यश, सांसारिक जीवन से तंग आकर हरिण-उद्यान में पहुँचता है और बुद्ध से उपदेश प्राप्त करता है। उसके माता-पिता और उसकी पत्नी उसका अनुसरण करके बुद्ध के शिष्य बन जाते हैं और उसके वे ५४ मित्र भी, जो कि धनी परिवारों के लड़के थे; और इस प्रकार बुद्ध के शिष्यों की कुल संख्या ६० हो जाती है। और फिर, बोधिवृक्ष के नीचे बोध प्राप्त करने के पाँच महीने बाद तथा हरिण-उद्यान पहुँचने के तीन महीने बाद वर्षा काल की समाप्ति पर बुद्ध ने अपने साठों शिष्यों को एकत्रित किया और कहा, "ऐ शिष्यो, जाओ, अब तुम 'बहुजनहिताय तथा बहुजन सुखाय' विभिन्न स्थानों का भ्रमण करो! किसी स्थान पर दो व्यक्ति एक साथ मत जाना। धर्म के सिद्धान्तों तथा उसके सूत्रों का प्रचार करो, पवित्रता के पूर्ण शुद्ध पथ का प्रचार करो!"

बुद्ध ने स्वयं अपने लिए उरुवेला के ग्राम में वापस जाना तय किया, जो कि ब्राह्मणों का गढ़ था, और जहाँ कि कस्सप परिवार के उरुवेला, नदी और गया नामक तीन भाइयों के नेतृत्व में १००० जटिल रहते थे। जब गयाशीर्ष पर्वत पर बुद्ध ने अग्नि (कामाग्नि) पर अपना तृतीय प्रवचन दिया, तो वे सब अपने समस्त अनुयायियों के साथ बुद्ध की शक्ति और श्रेष्ठता के आगे नतमस्तक हो गए। इसके बाद बुद्ध अपने नये शिष्यों के साथ राजगृह के बाहर यष्टिवन पहुँचे, और राजा बिम्बिसार बहुत-से नागरिकों व ब्राह्मणों के साथ उनके दर्शन करने आये। प्रसिद्ध ब्राह्मण कस्सप ने भरी सभा में यह घोषणा की कि वह गौतम का शिष्य है। लोगों की इस शंका का समाधान कर दिया कि वह गौतम का गुरु है अथवा गौतम उसके गुरु हैं। तदुपरान्त बुद्ध ने राजा के सामने उपदेश दिया और राजा अपने अनेक दरबारियों सहित उनका शिष्य बन गया। विदा होने से पहले राजा ने अगले दिन बुद्ध और उनके शिष्यों को अपने महल में भोजन के लिए आमन्त्रित किया। राजा ने स्वयं अपने हाथों से भोजन परोसा और भोजनोपरान्त बौद्ध संघ

को नगर के निकट स्थित वेलुवन उपहारस्वरूप भेंट किया।

राजगृह में बुद्ध ने ब्राह्मण सारिपुत्त और मोग्गल्लान को भी अपना शिष्य बनाया जो कि परिव्राजक संजय के २५० अनुयायियों में से थे। सारिपुत्त ने एक बार बुद्ध के शिष्य अस्सजी को नगर में भिक्षा माँगते देखा था और बुद्ध की शिक्षा के प्रभावस्वरूप उसके मुख पर विराजमान दीप्ति को देखकर ही सारिपुत्त बुद्ध की ओर आकृष्ट हुआ था।

संजय के संघ का विसर्जन व मत-परिवर्तन तथा "मगध प्रदेश के अनेक प्रतिष्ठित एवं कुलीन युवकों के" मत-परिवर्तन ने लोगों के बीच एक सनसनी और कुछ बेचैनी फैला दी और वे कहने लगे, "यह वैरागी गौतम लोगों को निपूता, स्त्रियों को विधवा तथा कुटुम्बों को नष्ट करने आया है।" बुद्ध ने उत्तर दिया कि वह केवल सत्य की शक्ति से ही लोगों को अपना शिष्य बना रहे हैं।

राजगृह से वह कुछ समय के लिए बनारस गये और वर्षा-काल में वहाँ विश्राम करने के बाद पुनः उरुवेला चले आए। उरुवेला में तीन मास ठहरने के बाद वह फिर राजगृह पहुँचे जहाँ कि उनके पिता के दूत उन्हें कपिलवस्तु ले जाने के लिए बार-बार आ रहे थे। किन्तु हर बार वे बुद्ध के शिष्य बन जाते थे और उन्हें राजा का सन्देश देना भूल जाते थे। जब नौ बार ऐसा हुआ तो अन्त में राजा ने उनके बचपन के साथी उदायिन को इस काम के लिए भेजा। यद्यपि वह भी बुद्ध की शिक्षा पाकर साधु और अर्हत बन गया, उसने शीतकाल के अन्त और वसंत के आरम्भ में उपयुक्त समय देखकर बुद्ध को राजा का सन्देश दिया। तथागत ने कपिलवस्तु जाना स्वीकार किया और वह वहाँ दो महीने में जा पहुँचे।

बुद्ध नगर के बाहर न्यग्रोध-कुन्ज में रुके जहाँ कि उनके पिता व अन्य सम्बन्धी उनसे मिलने आये, पर वे उनके और उनके संघ वालों के लिए भोजन का प्रबन्ध करना भूल गए। अतः अगले दिन प्रातःकाल ही बुद्ध अपने शिष्यों के साथ नगर में भिक्षा माँगने निकले। इसने

उनके राजन्य पिता को लज्जित किया और उसने बुद्ध के इस कृत्य को अपनी जाति के लिए अश्रेयस्कर कहकर बुद्ध को बुरा-भला कहा। बुद्ध ने उत्तर दिया, "हे, राजन्, आपका कुल राजकुल है और मेरा बौद्ध कुल, जो कि सदा भिक्षा पर ही पला है।" और फिर उन्होंने एक प्रभावोत्पादक श्लोक पढ़ा जिसने उनके पिता का मत परिवर्तित कर दिया। तदनन्तर राजा ने बुद्ध और उनके संघ वालों को अपने महल में ले जाकर स्वादु भोजन कराया। भोजनोपरान्त महल की स्त्रियाँ बुद्ध के दर्शन करने आईं, पर उनकी भावुक पत्नी न आई, और यह देखकर जब स्वयं भगवान् बुद्ध उसके कमरे में पहुँचे तो वह अपने स्वामी के चरणों में गिर पड़ी। दूसरे दिन, जब कि उनके भाई नन्द (उनकी सौतेली माता गोमती का पुत्र) का राजकुमार के रूप में तिलक व देश की विख्यात सुन्दरी जनपद-कल्याणी के साथ विवाह सम्पन्न होने वाला था, तब यह आश्चर्यजनक बात हुई कि बुद्ध उसे अपने साथ न्यग्रोध कुन्ज में ले गए और उसे भी भिक्षु बना लिया। सातवें दिन राहुल की माता ने बुद्ध का सच्चा उत्तराधिकारी होने के नाते राहुल से अपना उचित पैतृक उत्तराधिकार माँगने के लिए कहा, जिस पर बुद्ध ने राहुल को पब्बज्जा प्रदान करने के लिए सारिपुत्त को आदेश दिया ताकि वह अपने पिता की आध्यात्मिक सम्पदा का उत्तराधिकारी बन सके। राहुल और उसके बाद गोतम व नन्द के भिक्षु बन जाने के कारण शुद्धोदन के पास राज्य का कोई उत्तराधिकारी न रहा जिससे उन्हें 'महान् कष्ट' हुआ क्योंकि 'पुत्र-प्रेम'-जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, "त्वचा, मांस और हड्डियों को बेधता हुआ मनुष्य के रोम-रोम में समा जाता है।" उनके इस कष्ट को देखकर बुद्ध ने नियम बनाया कि किसी को भी अपने माता-पिता की अनुमति के बिना बौद्ध-संघ का सदस्य न बनाया जाय।

कपिलवस्तु से भगवान् बुद्ध लल्ल देश में अनोमा नदी पर स्थित अनुपिय नामक स्थान में पहुँचे, जहाँ कि उन्होंने अपने अभिन्नतम शिष्य आनन्द, अपने हठी विरोधी देवदत्त, उपालि नामक नापित, जो कि

बाद में बौद्ध-संघ का एक विख्यात नेता बना, तथा बौद्ध-दर्शन के महा-पंडित अनुरुद्ध का मत परिवर्तन किया।

वह पुनः राजगृह पहुँचे जहाँ कि सीत वन में ठहरकर उन्होंने श्रावस्ती-निवासी सुदत्त नामक व्यापारी को, जिसे अनाथपिंडिक की उपाधि प्राप्त थी, अपना शिष्य बनाया। नये अनुयायी की लगन के साथ वह व्यापारी नरेश अपने नगर लौटा जहाँ कि उसने आगामी वर्षा ऋतु व्यतीत करने के लिए बुद्ध को आमन्त्रित कर रखा था, और इसलिए उसने महात्मा बुद्ध तथा उनके संघ के लिए राजकुमार जेत के सामने नगर के निकट उसका जेत वन नामक उद्यान खरीदने का प्रस्ताव रखा। किन्तु राजकुमार ने कहा, "महाशय, यह उद्यान बिक्री के लिए नहीं है, चाहे आप इस उद्यान का मूल्य उस पर स्वर्ण-मुद्राएँ बिछाकर ही क्यों न दें।" व्यापारी ने कहा, "मैं इसी मूल्य पर इस बाग को लेता हूँ।" राजकुमार ने सकपकाकर उत्तर दिया, "नहीं, गार्हस्थधर्मी, मैं सौदा नहीं कर रहा था।" किन्तु व्यापारी उसके पीछे पड़ा रहा, और अन्त में उसने राजकुमार पर अपना वचन न निबाहने का मुकदमा दायर करके न्यायालय का निर्णय प्राप्त कर लिया, जिसमें कहा गया था, "महाशय, आपके द्वारा निर्धारित मूल्य पर ही 'आराम' आपसे लिया जाता है।" और फिर व्यापारी ने करोड़ों स्वर्ण-मुद्राएँ मँगवाकर उस पूरे उद्यान में बिछवा दीं। उसने उस उद्यान में एक भव्य विहार निर्माण कराया, जिसके बीच में भगवान् बुद्ध के लिए एक गंधकुटी तथा अन्य भिक्षुओं के रहने के लिए अलग-अलग कमरे भी बनवाए। तब उसने बुद्ध को आमन्त्रित किया और उनका राजसी स्वागत करके वह विहार 'वर्तमान तथा भावी' बौद्ध संघ के लिए भेंट कर दिया। [चुल्लवग्ग, vi ४]

कोसल के राजा प्रसेनजित की तत्कालीन राजधानी श्रावस्ती में मिगार के धनी व्यापारी के पुत्र पूर्णवर्धन की विदुषी पत्नी विशाखा उनकी शिष्या बनी। बौद्ध धर्म के हितैषी के रूप में उसने पूर्वाराम नामक विहार भेंट किया, जिसकी भव्यता जेतवन विहार के बाद श्रेष्ठतम

मानी जाती थी। "अनेक खंड वाले उस प्रासाद में एक बहुत बड़ा बरामदा था, जिसकी छत हाथियों के मस्तक वाले स्तम्भों पर टिकी हुई थी।"

पालि के जातक ग्रंथ तथा संस्कृत की 'महावस्तु' और 'ललित-विस्तर' नामक पुस्तकों में बुद्ध के जीवन की श्रावस्ती-आगमन की उपर्युक्त घटना के उपरांत का वृत्तांत नहीं मिलता। उनकी मृत्यु से पहले के कुछ दिनों का वृत्तांत 'महापरिनिर्वाण सूत्र' में दिया गया है। इसके बीच के समय की घटनाओं का विवरण उनके अपने जीवन के ४० वर्षों में दिये गए विभिन्न प्रवचनों के समय, स्थान व परिस्थितियों से थोड़ा-बहुत एकत्रित किया जा सकता है।

बौद्ध संघ में सम्मिलित होने वालों में अपने समय के अति प्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्री जीवक बहुत महत्त्व रखते थे, जिन्हें बालकों के रोगों की चिकित्सा में विशेषतः निपुण होने के लिए 'कोमारभच्च' की उपाधि प्राप्त थी। राजा बिम्बिसार के पुत्र, अभय ने उनका पालन-पोषण किया था और चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन के लिए उन्हें तक्षशिला भेजा था। सात वर्ष के अध्ययन के बाद उन्होंने प्रवीणता प्राप्त कर ली और श्रावस्ती से उज्जयिनी तक के अनेक राज्यों व बनारस तथा वैशाली-जैसे नगरों में भी उनकी ख्याति फैल गई। राजा बिम्बिसार ने उन्हें अपना चिकित्सक बनाकर बुद्ध तथा बौद्ध संघ का भी चिकित्सक बना दिया। एक बार बुद्ध कोष्ठबद्धता से पीड़ित हुए और जीवक ने उनकी चिकित्सा की। पहले जीवक ने उन्हें वसा का उपचार बताया जिससे उनके शरीर पर आनन्द ने कुछ दिनों तक मालिश की, किन्तु जब उससे लाभ न हुआ तो जीवक ने उन्हें रेचक औषधि के रूप में सूँघने के लिए तीन मुट्ठी-भर तीन कमल दिये, जिनमें कुछ अन्य औषधियाँ भी मिली हुई थीं। यह औषधि प्रभावक सिद्ध हुई और बुद्ध से कुछ समय के लिए गरम जल में स्नान करने तथा तरल भोजन सेवन न करने के लिए कहा गया। जीवक ने बड़ी निष्ठा के साथ बुद्ध की शुश्रूषा

की और उन्हें वह बहुमूल्य वस्त्र दिया जो कि उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने एक बार उनकी निपुणता से प्रसन्न होकर उन्हें पुरस्कार-स्वरूप भेंट किया था।

रिस डेविड्स द्वारा बनाई हुई उनके कार्य-कलाप की अनुक्रमणिका से प्रतीत होता है कि प्रथम वर्षा-काल बनारस में तथा आगामी तृतीय राजगृह के वेलुवन में व्यतीत हुए थे। वैशाली से एक शिष्ट-मण्डल उन्हें अपने यहाँ फैली हुई घोर महामारी दूर करने के लिए लेने आया। और इस प्रकार वह पहले उस जनतन्त्रवादी नगर में पहुँचे जहाँ कि लिच्छवि सामन्तों ने गंगा नदी के पार उनका राजसी स्वागत किया।

पाँचवीं वर्षा ऋतु में वह पुनः वैशाली पहुँचे और महावन कुन्ज के कूटागार भवन में ठहरे। वहाँ से दो बार कपिलवस्तु गये; पहली बार अनावृष्टि के कारण रोहिणी नदी के जल को लेकर शाक्यों और कोलियों के बीच आशंकित सशस्त्र संघर्ष को रोकने के लिए, तथा दूसरी बार अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करने, (जिनका देहान्त ९७ वर्ष की आयु में हुआ था)। तदुपरान्त वह वैशाली लौटे किन्तु उनके पीछे उनकी धात्रीमाता प्रजापती, उनकी पत्नी यशोधरा तथा अनेक शाक्य व कोलिय महिलाएँ मठ का जीवन अंगीकार करने चली आईं।

आरम्भ में बुद्ध उनकी इच्छाओं को मानने के पक्ष में न थे, किन्तु अन्त में आनन्द के तर्क को उन्होंने स्वीकार कर लिया (यह उन इने-गिने अवसरों में से एक था जब वह तर्क में किसी के आगे झुके हों) और भिक्षुणियों के लिए पृथक् नियमों व व्यवस्था का एक संघ स्थापित किया। किन्तु बुद्ध यह कहना न भूले कि स्त्रियों के लिए संघ में शामिल होने की यदि यह रिआयत न दी जाती तो "विशुद्ध धर्म चिरस्थायी होता, सद्नियम हजार वर्षों तक चलता। किन्तु अब वह ५०० वर्ष तक ही चलेगा।" [महापरिनिब्बाण सुत्त V २३]

वैशाली से वह इलाहाबाद के निकट कौशम्बी नामक स्थान पर मुकुल पर्वत पर पहुँचे और छठी वर्षा ऋतु उन्होंने वहीं बिताई।

वह पुनः राजगृह लौट आए जहाँ कि बिम्बिसार की स्वाभिमानी रानी क्षेमा का गर्व चूर हुआ और वह उनकी शिष्या बनी। उनके एक शिष्य ने भी बौद्धेतर सम्प्रदायों के छः अध्यक्षों को दैवी शक्ति का प्रदर्शन करके नीचा दिखाया, पर बुद्ध ने अपने उस शिष्य की भर्त्सना की तथा इस प्रकार के व्यवहार को आगे से निषिद्ध बताते हुए कहा, "इससे विरोधी के मत-परिवर्तन में अथवा मतानुयायी बने हुए व्यक्ति को कोई सहायता न पहुँचेगी।"

सातवीं वर्षा ऋतु श्रावस्ती में बीती जहाँ कि उनके विरोधी आचार्यों ने कपट द्वारा उनकी ख्याति नष्ट करनी चाही। इन्होंने चिन्चा नामक एक स्त्री को गर्भवती का कृत्रिम रूप देकर बुद्ध पर दोषारोपण किया कि उन्होंने उस स्त्री के साथ सम्भोग किया है, किन्तु यह कपट तुरन्त ही प्रकट हो गया।

आठवीं वर्षा ऋतु भर्ग देश के भेसकला वन में स्थित हरिण-उद्यान के मकर पर्वत पर बीती। राजा बोधि ने बुद्ध तथा उनके शिष्यों को अपने नव-निर्मित प्रासाद में भोजन के लिए आमन्त्रित किया और उस समूचे प्रसाद की अन्तिम सीढ़ी तक सफेद कपड़े से सजाया। किन्तु बुद्ध ने उस वस्त्र पर पैर रखना स्वीकार न किया। क्योंकि ऐसा करना भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था, अतः उस वस्त्र को हटाना पड़ा।

नवीं वर्षा ऋतु कौशाम्बी के घोषितारान नामक विहार में व्यतीत हुई, जिसे वत्स देश के राजा उदयन के तीन मन्त्रियों में से घोषित नामक एक मन्त्री ने भेंट किया था। यहाँ दो भिक्षुओं के बीच अनुशासन-सम्बन्धी एक गौण प्रश्न को लेकर इतना बड़ा मतभेद हो गया कि संघ तक में विभाजन हो गया, और जब बुद्ध के बार-बार समझाने-बुझाने पर भी वह समाप्त न हुआ तो बुद्ध समाज व शिष्यों से थककर पारिलेय्यक वन में विश्राम करने चले गए। रास्ते में उन्होंने एक ग्राम में भगु नामक साधु और अनुरुद्ध तथा अन्य दो साधुओं से प्राचीन वंसदाय नामक स्थान में भेंट की। उन्होंने अपने झुण्ड से अलग रहने

वाले अकेले हाथी की तरह एकान्तवास में आनन्द प्राप्त किया।

और फिर वह दसवीं वर्षा ऋतु बिताने श्रावस्ती लौटे। इसी बीच कौशाम्बी के विद्रोही भिक्षु अपने व्यवहार से उस नगर का समर्थन खोकर प्रायश्चित्त की भावना के साथ उनसे मिलने आये।

ग्यारहवीं वर्षा ऋतु राजगृह में व्यतीत हुई जहाँ कि अपनी आजीविका के लिए कृषि-कर्म करने वाला भारद्वाज नामक ब्राह्मण उनकी निम्नलिखित उक्ति से प्रभावित होकर उनका शिष्य बन गया—

"आस्था बीज है, निष्ठा वर्षा, विनय हरीस, मस्तिष्क जूआ, सजगता हल का फाल और मूठ, सत्यता बाँधने का साधन, कोमलता खोलने का साधन, और शक्ति बैलों की जोड़ी है।"

बारहवीं वर्षा ऋतु वेरञ्जा में बीती, जिसके बाद बुद्ध ने तक्षशिला के निकट सोरेय्य नामक स्थान तक अपनी दीर्घतम यात्रा की; वहाँ से वह सांकाश्य, कन्नौज होते हुए प्रयाग में गंगा पार करके बनारस लौटे, और फिर वैशाली पहुँचकर कूटागार भवन में ठहरे।

तेरहवीं वर्षा ऋतु चालिका और श्रावस्ती में व्यतीत हुई तथा चौदहवीं वर्षा ऋतु भी श्रावस्ती में ही व्यतीत हुई, जहाँ उनके पुत्र राहुल को २० वर्ष की आयु में संघ में सम्मिलित कर लिया गया।

पन्द्रहवीं वर्षा ऋतु भी श्रावस्ती में बीती, पर इस बार न्यग्रोध कुन्ज में। यह विश्राम-काल दो घटनाओं से सम्बन्धित है—(१) शुद्धोदन के पुत्र भद्दिय के उपरान्त महानामन के शाक्य-वंश के अधिपति बनने पर महानामन को बुद्ध का प्रवचन; (२) अपनी पुत्री के परित्याग किये जाने पर बुद्ध के श्वशुर सुप्रबुद्ध द्वारा बुद्ध को श्राप।

सत्रहवाँ विश्राम-काल राजगृह में, अठारहवाँ चालिका में, उन्नीसवाँ राजगृह के वेलुवन में, और बीसवाँ श्रावस्ती के जेतवन में व्यतीत हुआ जहाँ कि उन्होंने आनन्द को उस एक अन्य भिक्षु के स्थान पर अपना निजी अनुचर नियुक्त किया जिसने कि उनका भिक्षा-पात्र ले जाकर उनका दो बार अपमान किया था। इसी समय चालिका के निकट एक वन में

उन्हें अंगुलिमाल नामक प्रसिद्ध डाकू मिला, जिसकी कुप्रवृत्तियों का दमन करके उन्होंने उसे भिक्षु बनने के लिए तैयार कर लिया। शीघ्र ही उस डाकू ने अर्हत की परिपूर्णता प्राप्त कर ली।

जेतवन में उनके प्रवास से दो घटनाएँ सम्बन्धित हैं। उनके विरोधियों ने सुन्दरी नामक भिक्षुणी की हत्या करवाकर और उसके मृत शरीर को बिहार के निकट डलवाकर बुद्ध पर इस हत्या का आरोप लगाया। किन्तु यह षड्यन्त्र शीघ्र ही प्रकट हो गया और षड्यन्त्र-कारियों को लज्जित होना पड़ा। दूसरी घटना उनके अंगनिवासी एक मित्र के पुत्र, जो कि नागा साधुओं का अनुयायी था, तथा अनाथपिंडिक की पुत्री सुभद्रा के विवाह से सम्बन्धित है। बुद्ध के प्रति उस कन्या की आस्था की कठोरतम परीक्षा की जा रही थी, जिसकी खबर पाकर बुद्ध अपने ५०० शिष्यों के साथ अंग पहुँचे और उनके उपदेश से समस्त परिवार का मत-परिवर्तन हो गया। मत-परिवर्तन का जो कार्य अंग देश में आरम्भ हुआ था उसे पूरा करने के लिए अनुरुद्ध को वहीं छोड़कर वह श्रावस्ती लौट आए। 'सोणदण्ड सुत्त' में तथागत द्वारा "अपने ५०० भाइयों के साथ अंग देश की यात्रा" तथा कुछ समय के लिए चम्पा नामक स्थान में प्रवास का उल्लेख है।

बुद्ध के धर्म-प्रचार के इस विवरण का क्रम बीसवें वर्ष पर आकर फिर टूट जाता है और इसके बाद उसमें उनके जीवन के अन्तिम समय का उल्लेख मिलता है। इस कालान्तर से दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ सम्बन्धित हैं। उनके चचेरे भाई देवदत्त ने प्रस्ताव रखा कि बुद्ध को अपनी वृद्धावस्था के कारण (उस समय उनकी आयु ७२ वर्ष की थी) बौद्ध संघ के नेतृत्व से स्वयं निवृत्त हो जाना चाहिए और अपने स्थान पर उसे नेता बना देना चाहिए। जब इस प्रस्ताव को बुद्ध ने तीन बार अस्वीकार कर दिया तो देवदत्त उनका घोर शत्रु बन गया और सारिपुत्र ने तथा राजगृह के अन्य भिक्षुओं ने बुद्ध की आज्ञानुसार इस बात की सार्वजनिक घोषणा कर दी। क्रुद्ध देवदत्त अब अजातशत्रु के साथ

मिलकर उसके पिता बिम्बिसार को, जो कि बौद्ध धर्म का संरक्षक था, राज्य-सिंहासन से उतारने तथा बुद्ध को रास्ते से हटाकर स्वयं उनका स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। बिम्बिसार द्वारा राज्य-त्याग अथवा उसके पुत्र द्वारा उसकी हत्या[1] के बाद देवदत्त अपने षड्यन्त्र के प्रथम भाग में सफल हो गया। किन्तु षड्यन्त्र का दूसरा भाग बुरी तरह असफल रहा। देवदत्त ने बुद्ध की हत्या करने के तीन प्रयत्न किये। अन्त में उसने बौद्ध संघ में असंतोष पैदा करके बुद्ध को क्षति पहुँचानी चाही। उसने भिक्षुओं के एक दल को यह माँग लेकर बुद्ध के पास भेजा कि आहार, वस्त्र और आवास-सम्बन्धी विषयों को अधिक कठोर बनाया जाय। बुद्ध ने नियमों को कठोर बनाने का सुझाव स्वीकार करते हुए भी उन्हें प्रत्येक भिक्षु के लिए अनिवार्य बनाना स्वीकार न किया, और इस प्रकार देवदत्त को एक कट्टर सदाचारी के रूप में अपने-आपको पेश करने का अवसर मिल गया तथा देवदत्त ने ५०० व्रजवासी भिक्षुओं को, जो संघ में नये-नये आये थे, अपना अनुयायी बनाकर उनकी अज्ञानता का पूरा लाभ उठाया। उन्हें अपने साथ लेकर वह राजगृह के निकट गयाशीर्ष पर्वत पर रहने लगा। एक रात्रि को सभा में व्याख्यान देते हुए उसने शिष्यों की सभा में सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को देखकर सोचा कि वे भी बुद्ध को छोड़कर चले आए हैं और चूँकि उसे स्वयं नींद आ रही थी और शिष्यगण प्रवचन के लिए अधीर हो रहे थे, उसने उन दोनों से अपने स्थान पर भाषण देने के लिए कहा। उनके भाषण का परिणाम यह हुआ कि वे ५०० विधर्मी पुनः बौद्ध संघ में लौट आए। एक अन्य दिशा में भी बुद्ध की विजय हुई। अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए अजातशत्रु ने व्यर्थ ही छः तीर्थिकों से सांत्वना पानी चाही, और अन्त में चिकित्सक जीवत ने उसे आध्यात्मिक चिकित्सक, बुद्ध के पास जाने की सलाह दी। बुद्ध

१. दिग्घ निकाय, ii में बुद्ध ने स्वयं कहा है कि अजातशत्रु ने "अपने पिता की हत्या की।"

से मिलने के बाद वह भी उनका धर्मानुयायी बन गया। दूसरी महत्त्व-पूर्ण घटना यह थी कि जब प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ को यह पता चला कि शाक्यों ने चालबाज़ी से एक नीच जाति की स्त्री को, जो अब उसकी माँ थी, शाक्य-वंश की सन्तान बताकर उसका विवाह उसके पिता के साथ कर दिया था, तो उसने क्रोध में आकर बुद्ध के जन्म-स्थान कपिलवस्तु को ध्वस्त कर दिया और बुद्ध के सगे-सम्बन्धियों शाक्य जाति वालों का संहार किया। बुद्ध इन दुःखद घटनाओं को देखने के लिए जीवित रहे।

अब हम उनके जीवन के अन्तिम काल के वर्णन पर आते हैं। जब वह अपने ७९वें वर्ष में राजगृह के निकट गृध्रकूट नामक स्थान में रह रहे थे, अजातशत्रु ने वैशाली पर आक्रमण करना चाहा और इस विषय में बुद्ध की राय जाननी चाही। बुद्ध ने कहा कि जब तक व्रज-वासी प्रेम और शान्ति के साथ रहते हैं वे अजेय हैं।[1]

तदुपरान्त भगवान् बुद्ध ने आनन्द के साथ कई स्थानों की यात्रा की, जैसे कि अम्बलट्ठिका, नालन्दा (जहाँ वह पावारिक आम्र-कुन्ज में ठहरे), पाटलिग्राम, जहाँ कि अजातशत्रु नदी के दूसरे तट पर बसे

१. 'महा परिनिब्बाण सुत्त' के अनुसार इस योजना के बारे में बुद्ध की राय राजा ने अपने मन्त्री वस्सकार नामक एक ब्राह्मण द्वारा मँगाई थी, जिसे बुद्ध ने समझाया था कि जब तक वज्जिवासी निम्नलिखित बातों को पूरा करते रहेंगे तब तक उनका पराभव नहीं हो सकता, बल्कि वे समृद्धि के मार्ग पर ही अग्रसर होते रहेंगे : (क) अपनी जाति वालों की सार्वजनिक सभाएँ करना तथा उनमें जाना; (ख) विचार-विमर्श तथा प्रशासन में एकता; (ग) अपनी प्राचीन संस्थाओं का सम्मान; (घ) अपने बड़ों का यथोचित आदर; (च) पुराने उपासनागृहों में यथा-पूर्व उचित भेंट आदि चढ़ाकर तथा यथापूर्व सभी संस्कारों को सम्पन्न करके उनकी सहायता करना; (छ) उनमें जो अर्हंत हो उनका सम्मान करना।

लिच्छिवियों के खतरे का मुकाबला करने के लिए एक किला[1] बनवा रहा था, और जिसके लिए बुद्ध की भविष्य-वाणी थी कि वह एक दिन पाटलिपुत्र नामक महान् नगर बन जायगा। यहाँ से गंगा पार करके बुद्ध कोटिग्राम, नादिका और फिर वैशाली पहुँचे जहाँ कि आतिथ्य-परायण नर्तकी अम्बपाली ने लिच्छिवि सामन्तों को नीचा दिखाने के लिए बुद्ध को आमन्त्रित किया और वे 'एक लाख मुद्रा' देने पर भी उसे इस भोज को रुकवाने पर राजी न कर सके। उसका दृढ़ उत्तर था: "सामन्तो, यदि तुम समूची वैशाली तथा उसके अन्तर्गत समस्त राज्य भी मुझे भेंट कर दो तो भी मैं इस महान् भोज को स्थगित नहीं कर सकती।" भोजनोपरान्त उसने बौद्ध संघ को अपना सुन्दर आम्र-कुञ्ज भेंट किया।

वैशाली से भगवान् बुद्ध बेलुव नामक एक निकटवर्ती ग्राम में पहुँचे जहाँ कि उन्होंने अपना अन्तिम विश्राम-काल व्यतीत किया और जहाँ कि सख्त बीमार हो जाने पर उन्होंने भविष्य-वाणी की—"अब से तीन मास के बाद तथागत का देहान्त हो जायगा।" स्वास्थ्य-लाभ करने के बाद वह पुनः वैशाली के महावन में स्थित अपने प्रिय कूटगार भवन में लौट आए, और फिर वहाँ से पावा गये जहाँ वह चुण्ड नामक लुहार के आम्र-कुञ्ज में रहे। उस लुहार ने उन्हें चावल और कुकुरमुत्ता

१. यह किला मगध के महामन्त्री सुनीध तथा वस्सकार बनवा रहे थे। उन्होंने बुद्ध को अपने निवास-स्थान पर भोजन के लिए आमन्त्रित करने का सौभाग्य प्राप्त किया और जिस जगह बुद्ध नगर से बाहर निकले थे और जहाँ से उन्होंने नदी पार की थी वहाँ पर गोतम द्वार तथा गोतम घाट बनवाये। बुद्ध ने इस नगर की महानता के बारे में भविष्यवाणी की थी—"जहाँ तक आर्य लोग जायँगे, जहाँ तक यहाँ के व्यापारी यात्रा करेंगे, वहाँ तक यह नगर पाटलिपुत्र मुख्य नगर माना जायगा, और हर प्रकार की सामग्री के आदान-प्रदान का केन्द्र बन जायगा।" (महा परिनिब्बाण सुत्त)।

(न कि सूअर का मांस, जैसा कि प्रायः कहा जाता है) का भोजन कराया, जिसके परिणामस्वरूप कुशीनारा जाते समय रास्ते में उन्हें पेचिश हो गई। दुर्बलता से आगे न चल सकने के कारण उन्होंने आनन्द से कुकुत्था नामक निकटवर्ती नदी से जल लाने के लिए कहा, जिसे पीकर उन्हें अस्थायी रूप से कुछ लाभ हुआ और वह अपने निर्दिष्ट नगर के बाहर एक कुन्ज तक पहुँच सके। यहाँ उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम विश्राम किया और आनन्द को उपयोगी आदेश तथा परामर्श देने में अपना अन्तिम समय व्यतीत किया। दो साल वृक्षों के बीच आनन्द ने एक शय्या बिछा दी जिस पर वह उत्तर की ओर सिर करके तथा दाहिनी करवट एक पैर पर दूसरा पैर रखकर लेट गए। अपने अन्तिम समय में भी उन्होंने सुभद्र नामक ब्राह्मण दार्शनिक का मत-परिवर्तन किया, जिसे आनन्द उनके रोगी होने के कारण उनके समक्ष नहीं आने दे रहा था। किन्तु भगवान् बुद्ध मृत्यु-शय्या पर पड़े रहकर भी सत्य की खोज करने वाले से मिले बिना नहीं रह सकते थे। और फिर अन्तिम बार सब भिक्षुओं को एक साथ बुलाकर उन्होंने पूछा कि क्या उनके उपदेशों से सम्बन्धित किसी भी विषय पर उनकी कोई ऐसी शंका है "जिसके लिए तुम्हें बाद में दुःख हो कि मेरे जीवित रहते तुमने उस विषय में न पूछा।" भिक्षुओं के मौन बने रहने पर उन्होंने अपने निम्नलिखित अन्तिम शब्द कहे : "अब भिक्षुओ, मुझे केवल यही एक बात कहनी है कि समस्त मिश्रित वस्तुओं में क्षय निहित है। सबलता के साथ कार्य करके स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो!"

और इस प्रकार उस महान् व्यक्ति के जीवन का अन्त हो गया जो कि मानवों के बीच उच्चतम ज्ञान तथा शुद्धि प्राप्त करने के लिए जीवित रहा था, और जिसने अपने दीर्घ जीवन का मुख्यांश मानवता की सक्रिय सेवा में समर्पित कर दिया था।

अन्त में, अब हम उनके जीवन व चरित्र के कुछ मुख्य अंगों पर प्रकाश डाल सकते हैं।

अपने जीवन के ४५ वर्षों में उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यतः भारत का पूर्वी भाग ही था, जिसके दो सिरों पर श्रावस्ती और राजगृह नामक नगर स्थित थे। केवल एक बार ही उनके इस सीमा से बाहर जाने का उल्लेख मिलता है। इन दो नगरों के बीच बुद्ध के मार्ग पर कई स्थान थे, जिनका नाम उनके धर्म-प्रचार से सम्बद्ध है, जैसे नालन्दा, पाटलिपुत्र बेसाली, भद्दगाम, पावा, कुसिनारा, कपिलवस्तु, सेतव्य और बनारस तथा कोसम्बी। 'मज्झिमनिकाय' में भगवान् बुद्ध द्वारा "कुरु देश में कम्मास्सधम्मम नामक नगर में प्रवास" और 'दीघनिकाय' में अंग देश में प्रवास का विवरण मिलता है। उनका कार्य-क्षेत्र अथवा प्राचीन बौद्ध धर्म का आवास किसी एक राज्य तक सीमित न था, बल्कि कई राज्यों व कई जनतन्त्रों में फैला हुआ था। बुद्ध का परिव्राजक-जीवन कोसल, काशी तथा मगध के राज्यों में शाक्यों तथा मल्लों, बृजियों तथा लिच्छिवियों के जनतन्त्रों में व उत्तर-पश्चिम में स्थित "चोटियों और वंशों, कुरुओं और पंचालों, मच्छों और सूरसेनों" के देशों में बीता था (जनवसम सुत्तान्त)। ये समस्त प्रदेश बुद्ध के आध्यात्मिक प्रभुत्व तथा उनके द्वारा क्रमशः निर्माण किये जाने वाले आध्यात्मिक साम्राज्य के अधीन थे। उनके प्रत्येक प्रवचन-स्थल पर तथा उनके वर्षाकालीन विश्राम के स्थानों पर उनके भक्तों ने उनके और उनके संघ के लिए आवास का प्रबन्ध किया था। राजगृह में वह वेलुवन अथवा यष्टिवन अथवा उरुवेला ग्राम में ठहरते थे; श्रावस्ती में प्रसिद्ध जेतवन तथा उसका सुन्दर विहार तथा पुब्बाराम नामक विश्राम-गृह था; कौशाम्बी में उनके लिए घोषिताराम था, वैशाली महावन और कूटागार भवन तथा उनके दूसरे निवास-स्थान आम्रपाली कुञ्ज के लिए उल्लेखनीय हैं; पावा में वह चुण्ड के आम्र-कुञ्ज में और बाद में मल्लों द्वारा निर्मित नये उम्मटक भवन में ठहरते थे, जिसका स्वयं बुद्ध ने उद्घाटन किया था (संगीति सुत्तान्त), कपिलवस्तु में न्यग्रोध कुञ्ज था और बनारस में इसिपटन का हरिण-उद्यान। बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक के उपदेशों से सम्बन्धित होने के कारण ये बौद्ध धर्म के

कुछ तीर्थ-स्थान हैं।

उनके कार्य-कलाप के विस्तार से सिद्ध होता है कि ४५ वर्षों तक लगातार उनके दैनिक जीवन में कितनी अधिक सक्रियता थी। बुद्धघोष ने उनके दैनिक जीवन तथा जिस वातावरण में वह बीता था, उसका एक सजीव चित्र उपस्थित किया है—"वह प्रातःकाल (लगभग पाँच बजे) उठकर अपने निजी अनुचर को कष्ट न देने के विचार से स्वयं ही बिना किसी की सहायता के नहा-धोकर तैयार हो जाते थे। और फिर भिक्षा माँगने के लिए निकलने से पूर्व किसी एकान्त स्थान में बैठकर चिन्तन करते थे। भिक्षा माँगने का समय होने पर[1] पूरी तरह तीनों वस्त्र धारण करके और हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर कभी अकेले तथा कभी अपने अनुयायियों के साथ पास के गाँव या नगर में भिक्षा माँगने निकल जाते थे। और तब लोग यह देखकर कि 'आज तथागत स्वयं भिक्षा माँगने आए हैं' एक-दूसरे से होड़ लगाते थे और उनसे कहते थे, 'भगवन्, आज हमारे यहाँ भोजन कीजिए, हम आपके दस अनुयायियों का, हम बीस का और हम सौ का प्रबन्ध करेंगे।' और यह कहकर वे उनके हाथ से भिक्षा-पात्र ले लेते और उनके तथा उनके अनुयायियों के लिए आसन बिछाकर भोजन समाप्त होने तक प्रतीक्षा करते। और फिर भोजन समाप्त हो जाने पर भगवान् बुद्ध उन लोगों की बौद्धिक सामर्थ्य का ध्यान रखते हुए इस प्रकार प्रवचन करते कि कुछ अन्य कार्यों को करते हुए भी उनके शिष्य बन जाते, कुछ सदा के लिए उनके पथ का अनुसरण करते तथा कुछ सर्वोच्च सत्य तक प्राप्त कर लेते। तब वह अपने आसन से उठकर अपने निवास-स्थान के लिए चल देते तथा वहाँ पहुँचकर खुले प्रांगण में बैठ भोजन करके आने वाले अपने अनुयायियों की प्रतीक्षा करते। और जब उनका अनुचर उन्हें सूचित करता

---

१. बहुधा ऐसा भी होता था कि चिन्तन समाप्त हो जाने पर भिक्षा माँगने निकलने के लिए बहुत जल्दी होती थी; ऐसे अवसरों पर वह पास के किसी साधु भिक्षु से मिलने चले जाया करते थे।

कि वे आ पहुँचे हैं तो वह उठकर अपने निजी कक्ष में चले जाते। मध्याह्न के भोजन तक का समय इस प्रकार व्यतीत होता। और फिर वह अपने कक्ष के द्वार पर खड़े होकर भिक्षुओं के समुदाय को उच्चतर जीवन प्राप्त करने के लिए अधिक परिश्रम करने का उपदेश देते। कुछ लोग अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनसे अपने लिए चिन्तन का विषय पूछते, तथा जब वह यह बता चुकते तो वे अपने-अपने एकान्त स्थान में जाकर दिये हुए विषय पर चिन्तन करते; और तब भगवान् बुद्ध दिन की गरमी में अपने निजी कक्ष में जाकर कुछ समय के लिए विश्राम करते।[१] विश्राम कर चुकने के बाद वह अपनी शय्या से उठते और कुछ समय तक अपने आस-पास के लोगों की दशा पर विचार करते कि वह किस प्रकार उनका भला कर सकते हैं। दिन ढल जाने पर आस-पास के गाँवों के लोग उनके निवास-स्थान पर इकट्ठे हो जाते, तथा सभा-भवन में बैठकर वह उस अवसर तथा लोगों की मान्यताओं के अनुसार सत्य के बारे में भाषण करते। और फिर कुछ समय उपरान्त सभा विसर्जित कर देते। अपराह्न वेला में वह इस प्रकार व्यस्त रहते। दिन समाप्त हो जाने पर यदि उन्हें स्नान की ताजगी की आवश्यकता होती तो वह नहाते, जब कि उनका अनुचर उनके आसन को सुगन्धित पुष्पों से सुसज्जित करता। सन्ध्या को वह कुछ समय के लिए अपने पूरे वस्त्र धारण किये हुए एकान्त में बैठे रहते, इतने में उनके साथी चिंतन से निवृत्त होकर आकर एकत्रित होने लगते। फिर कुछ लोग उनसे अपने जटिल प्रश्न पूछते, कुछ अपने चिन्तन के विषय में वार्ता करते और कुछ

१. एक बार इस समय वह अपने पुत्र राहुल को कुछ उपदेश देने के लिए निकट के एक वन में चले गए थे, पर नियम यही था कि वह अपराह्न वेला काफी बीत जाने से पहले और उपदेश नहीं देते थे (मज्झिमनिकाय, १४७) कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दोपहर की गरमी में भी वह चिन्तन में लीन रहते थे। (सम्युत्त निकाय, i, १४६-१४८)

सत्य की व्याख्या सुनना चाहते। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को सन्तुष्ट करने में रात्रि का प्रथम प्रहर बीत जाता। शेष रात्रि का कुछ भाग अपने कमरे के बाहर इधर-उधर टहलते हुए चिन्तन करने में और शेष भाग शान्ति के साथ लेटकर विश्राम करने में बीतता।" (डॉ० रिस डेविड्स-कृत अमेरिकन लेक्चर्स से उद्धृत)

इस प्रकार उनकी दिनचर्या में चिन्तन, भिक्षा अथवा भोजन के निमन्त्रण पर जाना, सर्वसाधारण को उपदेश देना, नये व्यक्तियों का मत परिवर्तन करना, मठ में लौटकर आना, दिन के भोजन के पश्चात् भिक्षुओं को चिन्तन का विषय बताना, स्वयं चिन्तन करना, तीसरे पहर सर्वसाधारण के सम्मुख प्रवचन, संध्या-स्नान, चिन्तन, चिन्तन के पश्चात् भिक्षुओं के साथ वार्ता और फिर चिन्तन तथा विश्राम आदि कार्य सम्मिलित थे। इस प्रकार उनके दो जीवन थे—एक आत्मावलोकन तथा चिन्तन का आन्तरिक जीवन तथा बाहरी कार्यों का बाह्य जीवन, जिसका उद्देश्य अपने साथी प्राणियों की सेवा करना था; और उनका यह द्विपक्षीय जीवन एक पक्षी के उन दो पंखों की तरह था जिनकी सहायता से ही सदा वह आकाश में ऊँचा-से-ऊँचा उड़ पाता है।

बुद्ध जिस भाषा में उपदेश देते थे वह संस्कृत न थी, बल्कि उस समय पूर्वी भारत में प्रचलित पालि से मिलती-जुलती भाषा थी। किन्तु उन्होंने प्रत्येक शिष्य को अपनी मातृ-भाषा में ही ज्ञान प्राप्त करने की अनुमति दे रखी थी।

बुद्ध अपने श्रोताओं पर सम्पूर्ण अधिकार बनाए रखते थे। भक्तजन उन्हें भगवा अथवा भन्ते कहकर संबोधित करते थे। दर्शकगण उन्हें "झुककर नमस्कार करके अथवा विनम्रता तथा सौजन्य के साथ अभिवादन कर" एक ओर आसन ग्रहण करते थे। कुछ लोग बैठने से पहले अपना और अपने कुल का नाम भी जोर से बताते थे।

सभा समाप्त होने के बाद श्रोतागण अपने स्थान से उठते और "झुककर तथागत को शीश नवाते और उनकी परिक्रमा करते और उनका

दाहिना हाथ आशीर्वाद देने की मुद्रा में उठा रहता।"

कई बार रात को देर तक सभा होती रहती थी। 'मज्झिम निकाय' में उदाहरण के लिए, एक ऐसी सभा का उल्लेख है जो कि पूर्ण चन्द्र के प्रकाश में हुई थी। बुद्ध पूर्ण शान्ति के साथ बैठे हुए थे। बीच-बीच में एक भिक्षु उठता और अपने एक कन्धे से अपना वस्त्र हटाकर तथा दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करके प्रश्न पूछता। और तब बुद्ध मृदुता के साथ कहते—"बैठो भिक्षु, और जो चाहो पूछो!" जब जीवक की सलाह से (और अपने छः मन्त्रियों की छः तीर्थंकों के दर्शन करने की सलाह के विरुद्ध) सम्राट् अजातशत्रु जीवक के आम्र-कुन्ज में बुद्ध से मिलने गये तो उस अलौकिक शान्ति को देखकर वह सहसा भयभीत हो उठे और अपने-आपको संकट में फँसा समझकर जीवक से बोले, "तुम मेरे साथ कोई चालाकी तो नहीं कर रहे जीवक? तुम धोखा देकर मुझे मेरे शत्रुओं के हाथ तो नहीं सौंपे दे रहे? यह कैसे सम्भव हो सकता है कि १२५० व्यक्तियों की इस सभा में न कोई छींके, न कोई खाँसे और न किसी भी तरह की आहट हो?" जीवक ने उन्हें आश्वासन दिलाया कि वहाँ किसी भी प्रकार का षड्यन्त्र नहीं है और कहा, "राजन्, सीधे चलते चले जाइये। सभा-भवन में दीपक जल रहे हैं, और मध्य स्तम्भ के सहारे पूर्व की ओर मुख किये भगवान् बैठे हैं।" और जब अजातशत्रु ने शान्त सरोवर की भाँति निश्चल जन-समुदाय को देखा तो वह बोल उठा—"मेरी कामना है कि मेरे पुत्र उदायि भद्द को भी इस सभा में बैठे हुए भिक्षुओं की तरह शान्ति प्राप्त हो!" (दी० नि० ii)

पालि कृतियों में मिलने वाले बुद्ध के उपदेशों की शैली उपनिषद्-जैसे प्राचीन वैदिक साहित्य के व्याख्यानों के जैसी ही थी; उसमें भावना व उत्तेजना का उसी प्रकार का अभाव, वही गम्भीरता, वही उत्कृष्ट एकरूपता और कल्पना की उड़ान के लिए कोई गुन्जाइश न छोड़ने वाली वैसी ही व्यवस्थापूर्ण पुनरुक्ति थी। "अपना धर्म मनवाने

के लिए न उनमें उत्तेजनामय आग्रह था और न ही अनास्था रखने वाले व्यक्तियों के प्रति कटुता।" कई स्थलों पर प्रवचन की जगह प्रश्नोत्तर मिलते हैं। बुद्ध से प्रश्न पूछा जाता है और फिर वह उसके उत्तर से दूसरा प्रश्न पूछते हैं। कई बार सिद्धान्त व शिक्षाजनक व्याख्यानों के बीच उपकथाएँ आ जातीं। वह प्रकृति व मानव-जीवन का स्वयं बड़े ध्यान से अवलोकन करते थे और इस कारण इसी की उपमाएँ प्रयोग में लाते थे। उपमाओं से कई बार कल्पित किस्से-कहानियों पर आ जाना स्वाभाविक ही था। कई बार जब वह सर्वसाधारण के, सार्वजनीन मानव-हृदय के मनोभावों, उनकी आशा तथा भय, दुःख और सुख को व्यक्त करना चाहते, तो उनके शब्दों से उच्च स्तर की कविता फूट पड़ती, किन्तु गम्भीरता और संयमशील उत्कृष्टता का विशिष्ट गुण सदा बना रहता। "मानव और व्यक्ति इस व्यवस्था, इस सूत्र के पीछे छिप जाते हैं। दुःखी और पीड़ित को ढूँढ़ निकालने और उसे सांत्वना देने वाला कोई भी नहीं है। समस्त सृष्टि के दुःख के बारे में ही हम केवल बार-बार सुनते हैं।"

वाद-विवाद में पहले अपने विरोधी के कथन की विवेचना करना उनकी पद्धति की लाक्षणिक विशेषता थी। २००० अनुयायियों वाले श्रमणकर्ता निगरोध का विचार था कि बुद्ध की एकान्तवास की आदत से उनकी "अन्तर्दृष्टि नष्ट हो चुकी है, वह सफलता के साथ किसी सभा का संचालन नहीं कर सकते, न वार्तालाप कर सकते हैं; केवल चीजों की ऊपरी तह में ही खोकर रह जाते हैं," और अपने इस मत को सिद्ध करने के लिए निगरोध ने बुद्ध से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए कहा। बुद्ध पराजित होने वाले न थे, बोले—"निगरोध, भिन्न दृष्टिकोण वाले व्यक्ति के लिए बिना अभ्यास अथवा बिना शिक्षा मेरे उस सिद्धान्त को समझना कठिन है जिसकी मैं अपने शिष्यों को शिक्षा देता हूँ," और इस तरह बाजी पलटकर करने लगे—"अच्छा, निगरोध, तुम्हीं अपने सिद्धान्तों के बारे में मुझसे कोई प्रश्न पूछो।" यह

सुनकर उनके शिष्य कहने लगे, "अपने विचारों को न बताकर दूसरे के विचारों की मीमांसा करने की समण गौतम की प्रतिभा तथा शक्ति सराहनीय है।" और इस प्रकार अपने विरोधी के विचारों की आलोचना करते हुए उन्होंने अपने विचारों की सत्यता प्रमाणित कर दी और वे श्रमणकर्ता कहने लगे—"हम और हमारे गुरु पराजित हो गए," और "कमर व सिर झुकाकर चुपचाप विचारमग्न बैठे रहे।" उनके नेता ने अपनी गलती स्वीकार की और भविष्य में अपने-आपको रोककर चलने का प्रण किया।

उनकी अभ्यस्त गम्भीरता में शायद ही कभी मनोवेग की झलक दिखाई देती हो, और वह भी केवल तभी जब कि कोई साथी अपनी अनास्था के कारण अपने वचनों से उन्हें बुरी तरह उकसा न देता हो। "ऐ बुद्धिहीन, मूर्ख, तू हमें सुधारने की कोशिश में खुद अपनी कब्र खोद रहा है, और अपने ऊपर पापों का ढेर लाद रहा है। ऐ मूर्ख, तुझे अपने इस कार्य से बहुत समय तक हानि और दुःख उठाना होगा।"

शायद ही कभी बुद्ध के बारे में यह कहा गया हो कि किसी ने उन्हें रोते या मुस्कराते देखा। कहा जाता है कि वह प्रथम बार तब मुस्कराए थे जब कि कपिलवस्तु में उनके ससुर ने उनकी भर्त्सना की थी।

अपने अन्तिम समय में अपनी शैया के पास अपने प्रिय शिष्य आनन्द को आँसू बहाते देखकर उनके मुख से यही आवेशरहित शब्द निकले थे—"प्रसन्न होओ, आनन्द! रोओ मत। क्या मैंने बारम्बार तुम्हें यह नहीं बताया कि समस्त वस्तुओं का यही निश्चित क्रम है कि हमें अपनी प्रिय वस्तुओं से विदा लेनी ही पड़ती है? यह कैसे हो सकता है कि जो चीज पैदा हुई है वह न मरे?"

और फिर भी बुद्ध सब प्रकार से मानव ही थे। एक बार उन्हें एक रोगी साधु मल-मूत्र में सना, अकेला, असहाय पड़ा हुआ मिला। उन्होंने उसे स्वयं अपने हाथों से धो-पोंछकर साफ किया और अन्य भिक्षुओं

को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुम्हारे न माता है न पिता, अतः तुम ही एक-दूसरे के माता-पिता बनो! जिस प्रकार तुम मेरी सेवा-शुश्रूषा करते हो, उसी प्रकार तुम्हें रोगियों की भी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए।" अपने घर से बाहर निकाले गए पंथक ने उनके 'आराम' के द्वार पर आकर शरण ली। "और तब भगवान् ने आकर मेरा सिर सहलाया और हाथ पकड़कर मुझे विहार के उद्यान में ले गए और फिर दया करके मुझे पैर पोंछने के लिए कपड़ा दिया।" [थेरगाथा', ५५७ तथा उसके आगे के पृष्ठ] दुःख से पागल हुई एक स्त्री को देखकर उनके साथी कहने लगे—"इस पगली को यहाँ मत आने दीजिए।" भगवान् बोले, "उसे मत रोको," और जब वह फिर लौटकर आई तो उसके पास खड़े होकर उन्होंने कहा—"बहन, अपनी मानसिक शक्ति पुनः प्राप्त करो!" उसने बुद्ध के प्रभाव-मात्र से अपनी मानसिक शक्ति पुनः प्राप्त कर ली। [साम्स आफ द सिस्टर्स, ४७। भिक्षुणी विभंग? भिक्षुणी प्रातिमोक्ष सुत्त?]

नैतिक पीड़ा दूर करने के लिए भी वे उतने ही चिन्तित रहते थे। उनके लिए पाप असहनीय था, न कि पापी। अपने पिता को राज्य-सिंहासन से उतारने वाला अजातशत्रु भी पश्चात्ताप करने पर उनके कल्याणकारी शब्दों से वंचित न रहा। उन्होंने वारांगना अम्बपाली को शरण दी और उसका भ्रष्ट चरित्र भी उसकी अपनी उदारता के कारण तथा बुद्ध के प्रभाव से समाज के लिए हितकर सिद्ध हुआ। "उस पर उन राजाओं व सामन्तों से अधिक ध्यान देकर, जो कि निश्चय ही उससे अधिक ध्यान पाने योग्य थे, बुद्ध ने वह काम किया जो कि ईसाई धर्म-ग्रन्थों में लिखित 'एक भ्रष्ट स्त्री' के मत-परिवर्तन की याद दिलाता है।" [बिशप बिगनडेट, 'लीजेण्ड आफ द बुद्ध', पृष्ठ २५८] पश्चात्ताप करने वाले पापी के प्रति बुद्ध की प्रतिक्रिया इन शब्दों में दी गई है: "जो कोई भी अपने दोष को दोष समझकर उसे उचित रूप से स्वीकार करता है, उसे भविष्य में निश्चय ही आत्म-संयम प्राप्त होता है।"

[दीघ० नि० iii, २५]

सुदूर स्थानों से आने वाले भिक्षुओं को (सोंग भिक्षु सुदूरस्थित अवन्ती से उनके दर्शन करने आया था) वह सर्वप्रथम इन सहानुभूति-पूर्ण शब्दों के साथ सम्बोधित करते—"कहो, अच्छे तो हो भिक्षु ? रास्ते में खाने-पीने की तकलीफ तो नहीं रही ? रास्ते में थके तो नहीं ?"

अपने मानव-प्रेम तथा अपनी सहृदयता के कारण उनमें बातों को उनके उचित अर्थ में समझने की क्षमता तथा स्वाभाविक विनम्रता भी थी। एक बार उनका प्रिय शिष्य सारिपुत्र कहने लगा, "हे भगवन्, आपके प्रति मेरी इतनी आस्था है कि मेरे विचार में आपसे बढ़कर ज्ञानी न कोई है, न कभी हुआ है और न कभी होगा।" "ठीक कहते हो, सारिपुत्र" बुद्ध ने उत्तर दिया—"तुम तो अतीत के सभी बुद्धों के विषय में जानते हो न ?" "नहीं भगवन् !" "अच्छा तो भविष्य के बुद्धों के विषय में तो जानते ही होगे ?" "नहीं, भगवन्।" "तो कम-से-कम तुम मुझे तो जानते ही होगे और मेरे मस्तिष्क में पूरी तरह प्रवेश कर चुके होगे ?" "नहीं, भगवन्, यह भी मैं नहीं कर पाया हूँ।" "तो फिर, सारिपुत्र, क्यों तुम बढ़-चढ़कर इतने बड़े शब्द बोल रहे हो ?"

[महा परिनिब्बाणसुत्त i ६१]

आवश्यकता पड़ने पर वह मजाक उड़ाए बिना भी न रहते थे। एक बार वह विल्व वृक्ष के नीचे बैठे चिन्तन कर रहे थे कि उधर से दंडपाणि नामक प्रसिद्ध दंभी निकला और अपनी छड़ी का सहारा लेकर इठलाते हुए उसने उनसे यह पूछने का दुस्साहस किया, "ऐ तपस्वी, तुम किस मत के अनुयायी और प्रचारक हो ?" बुद्ध ने तुरन्त ही उपयुक्त उत्तर दिया, "संसार की कोई भी वस्तु मुझे व्यग्र नहीं बना सकती, पवित्रता का प्रत्यक्ष बोध से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, पवित्रात्मा किसी से कोई प्रश्न नहीं पूछता, वह समस्त नैराश्य से मुक्त होता है, उसे न अस्तित्व की लालसा रहती है न अनस्तित्व की। भाई, मैं इसी मत का अनुयायी हूँ, इसीका प्रचार करता हूँ।" और इसका सीधी-सादी

भाषा में अर्थ है कि "तुम इस लायक नहीं हो कि तुम्हारी ओर ध्यान दिया जाय।" "यह सुनकर दंडपाणि नामक वह शाक्य जीभ निकालकर, मुँह चिढ़ाते हुए और माथे पर तीन बल डाले छड़ी टेकता हुआ चल दिया।"

शत्रुओं द्वारा अपनी निन्दा का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। लिच्छविराज सुनक्खत्त "बुद्ध के अनुशासन में पवित्र जीवन बिता सकने में असमर्थ" होकर बौद्ध-संघ छोड़कर वैशाली चला आया (दि० नि० iii० १,४) और सब लोगों के बीच में प्रचार करने लगा कि साधारण मनुष्यों की बुद्धि से अधिक बुद्ध का ज्ञान नहीं है, और कि उसका सिद्धान्त केवल तर्क की उपज है केवल उनके अपने मस्तिष्क की सूझ है," आदि। [म० नि०] सारिपुत्र ने जब बुद्ध को इस बात की सूचना दी तो उन्होंने शान्ति के साथ कहा : "सारिपुत्र, यह मूर्ख सुनक्खत्त क्रोध में है, और जो कुछ उसने कहा है वह उसके अपने क्रोध पर ही लागू होता है।" एक अन्य अवसर पर एक भारद्वाज ब्राह्मण ने यह सुनकर कि उसके नेता बौद्ध संघ में शामिल हो गए हैं, "अशिष्ट एवं कटु भाषा में बुद्ध के लिए अपमानजनक शब्द कहे ('···तू चोर है, तू मूर्ख है···तू ऊँट है···तू गधा है')।" बुद्ध ने अपनी इस निन्दा को शान्ति के साथ सुनकर उत्तर दिया : "जो गाली सुनने पर गाली नहीं देता उसकी दुगुनी जीत होती है।" "जिस गाली का उत्तर न दिया जाय वह उस भोजन की तरह है जिसे अतिथि स्वीकार नहीं करता और आतिथेय को पुनः ग्रहण करना पड़ता है।" सावत्थी के एक ब्राह्मण गृहस्थ ने बुद्ध को भिक्षा माँगने आते देखकर कहा, "दूर रह मुण्डे, दूर रह समक, दूर रह वसलक।" और गाली देने वाले दोनों लोगों को अन्त में क्षमा याचना करनी पड़ी (संयुत्त निकाय, १६२ और वसलसुत्त)। वास्तव में बुद्ध प्रशंसा अथवा निन्दा से परे थे। वे सदा अपने शिष्यों को यही आदेश देते थे : "भाइयो, यदि बाहर के लोग मेरे या मेरे सिद्धान्तों अथवा बौद्ध-संघ के विरुद्ध बोलते हैं तो

तुम्हें न उनसे द्वेष करना चाहिए और न दुःख होना चाहिए; और यदि वे प्रशंसा करते हैं तो तुम्हें प्रसन्नता भी नहीं होनी चाहिए।"

('डायलॉग्स आफ बुद्ध', १, ३)

प्रशंसा अथवा निन्दा के प्रति उनकी उदासीनता का अर्थ यह न था कि वे जिन सत्यों का प्रतिपादन करते थे उनके प्रति भी उदासीन थे। उन सत्यों के प्रति उनका उत्साह तथा उनके प्रसार के लिए उनकी उत्सुकता इन शब्दों में मिलती है : "यदि मेरे पास एक ईमानदार और स्पष्टवादी बुद्धिमान व्यक्ति आए तो मैं उसे अपने सिद्धान्तों की शिक्षा दे सकता हूँ, और यदि वह उस शिक्षा के अनुसार अभ्यास करे तो उस सर्वोच्च धर्म व ध्येय की स्वयं प्राप्ति कर सकता है जिसके लिए लोग गार्हस्थ्य जीवन त्यागकर संन्यासी हो जाते हैं—और इस काम में उसे केवल सात दिन ही लगेंगे।" (दी० नि० iii ५६) इन शब्दों से उनके उस विश्वास व उस सचाई की गहराइयों का आभास मिलता है जिसने उनके धर्म को इतना प्रबल और ग्राह्य बना दिया था।

बुद्ध की परम मानवीयता का चित्र भिक्षुओं और उनके परस्पर सम्बन्ध में मिलता है। इसका एक उदाहरण निम्नलिखित कथा में देखा जा सकता है :

"बहुत-से भिक्षु एक साथ मिलकर आनन्द के पास पहुँचे और कहने लगे : 'भाई आनन्द, भगवान् बुद्ध के मुख से हमने बहुत दिनों से कोई व्याख्यान नहीं सुना। यदि हम कोई व्याख्यान सुन पाते तो बहुत अच्छा होता'।"

"आदरणीय भिक्षुओ, आप लोग ब्राह्मण रम्भक के आश्रम में चलिए। सम्भवतः वहाँ आप भगवान् बुद्ध के मुख से कोई ज्ञानपूर्ण भाषण सुन सकेंगे।"

" 'हम वहाँ अवश्य जायँगे, भाई' भिक्षुओं ने उत्तर दिया।"

और जब "भगवान् बुद्ध सावत्थी से द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर लौटे और भोजन प्राप्त कर चुके तो दिन-भर के लिए पूर्वी कुञ्ज में चले गए"

और जब संध्या होने पर उनके चिन्तन का समय समाप्त हो गया" तो स्नानादि से निवृत्त होकर आनन्द के साथ रम्मक के 'आश्रम में पहुँचे जहाँ कि एकत्रित भिक्षुगण एक ज्ञानपूर्ण वाद-विवाद में व्यस्त थे।" भगवान् बुद्ध आश्रम के बाहर खड़े होकर भिक्षुओं का वार्तालाप समाप्त होने की प्रतीक्षा करने लगे। जब उन्होंने देखा कि वार्ता समाप्त हो चुकी है तो उन्होंने खखारकर दरवाजा खटखटाया और भिक्षुओं ने उनके लिए द्वार खोल दिए।" और फिर आसन ग्रहण करके उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, आदि।

मानवीय प्रकृति के पूर्ण ज्ञान से उपजी हुई इस शिष्टता तथा सहृदयता के होते हुए भी निष्काम भावना, दृढ़ आदर्श-पालन, अटल एवं निष्ठुर सत्य-पालन उनके चरित्र के वे विशिष्ट गुण थे जिनके द्वारा उन्होंने जीवन की दुर्बलताएँ प्रकट करके मनोभावों के प्रति रत्ती-भर लगाव दिखाए बिना, कठोरता व सबलता के साथ तथा अपने विश्वासों की गहराइयों से निकली हुई एक स्वाभाविक सरलता के साथ उन दुर्बलताओं को दूर करने के उपाय बताये थे।

मानव-प्रकृति के सद्गुणों और उसकी पूर्णता का सहारा लेना न कि अपने मतानुयायी एकत्रित करने के लिए दैवी शक्तियों का प्रदर्शन करना उनका सिद्धान्त था। इस विषय में उन्होंने कहा था: "इन रहस्यपूर्ण चमत्कारों में मुझे ख़तरा नज़र आता है, और इसीलिए मैं उनसे घृणा करता हूँ और उनका प्रयोग करने में लज्जा अनुभव करता हूँ।" [किवद्ध सुत्त]। उन्होंने सब प्रकार की शकुन-विद्या, शकुन-अपशकुन विचारने तथा भविष्य-वाणी करने को निम्न कला कहकर बहिष्कृत किया था। [ब्रह्मजाल सुत्त]। वह अपने सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य के प्रति भी समान रूप से उदार थे। "कुछ ऐसी बुरी चीज़ें हैं जिनसे दूर नहीं रहा जा सकता, जो कि मनुष्य को भ्रष्ट करती हैं, पुनर्जन्म का कारण बनती हैं, विपदा लाती हैं, जिनके फलस्वरूप बुराइयाँ पैदा होती हैं और भविष्य में जन्म, क्षय तथा मृत्यु का कारण बनती हैं। और इन्हीं

चीज़ों को दूर करने के लिए मैं अपने सिद्धान्तों की शिक्षा देता हूँ; जिनका यदि तुम पालन करोगे तो तुम्हें भ्रष्ट करने वाली वे वस्तुएँ दूर हो जायँगी, और पवित्रता लाने वाली वस्तुएँ उदय होकर वृद्धि प्राप्त करेंगी और प्रत्येक व्यक्ति को तत्काल स्वयं अपने प्रयास से पूर्ण अन्तर्ज्ञान प्राप्त हो जायगा—और इसलिए मैं अपने सिद्धान्तों का प्रचार करता हूँ न कि अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाने के लिए और न लोगों को उनके अपने सिद्धान्तों से विमुख करने के लिए और न बुरे सिद्धान्तों की ओर उन्हें ले जाने या अच्छे सिद्धान्तों से उन्हें हटाने के लिए।" और तभी एक भिन्न धर्मावलम्बी को यह सलाह देने की उनमें असाधारण सहिष्णुता थी : "जो तुम्हारा गुरु है उसीको अपना गुरु रहने दो। जो तुम्हारा नियम है उसीको अपना नियम रहने दो।" वह सत्य को समझने और उसे अपने जीवन में उतारने को महत्त्व देते थे, उनके लिए मनुष्य का व्यक्तित्व विचारणीय अथवा ध्यान देने योग्य न था। नेतृत्व अथवा अधिकार प्राप्त करने के विचारों को उन्होंने कभी नहीं अपनाया था। उनके नियम ही उनके संघ के सच्चे शासक थे।

अपने भिक्षुओं के लिए बनाये हुए नियमों के वह स्वयं एक जीता-जागता उदाहरण थे। "जब कि उनकी प्रतिष्ठा चरम शिखर पर पहुँच चुकी थी। और उनकी गणना भारत के प्रमुखतम व्यक्तियों में होती थी, वे, जिनके सामने राजा सिर झुकाते थे, हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर दिन-प्रतिदिन सड़कों और गलियों में घर-घर घूमते और तब तक आँखें झुकाये मौन खड़े रहते जब तक कि कोई उनके पात्र में एक ग्रास भोजन न डाल दे।" (ओल्डन बर्ग) "एक बार" जैसा कि 'अंगुत्तर निकाय' में लिखा है, "भगवान् बुद्ध सिंसपा वन में आणवी नामक चरागाह में ठहरे। अत्यन्त शीत और पाले के बीच वह पत्तों की शैया पर बैठे चिन्तन कर रहे थे। पशुओं के खुरों से रौंदी हुई भूमि असमतल थी; भिक्षुओं-जैसे उनके हल्के वस्त्र थे; और तीर की तरह चुभने वाली ठण्डी हवा थी।" जब बार-बार उनसे पूछा गया, "भगवन् क्या आप सुखी

हैं ?" हर बार बड़े उदात्त भाव से बुद्ध ने यही उत्तर दिया: "हाँ युवक, मैं सुखी हूँ। संसार में सुख के साथ रहने वाले लोगों में मैं भी एक हूँ।"

अथवा, उनकी अनुपम विनम्रता और मानवीयता का निम्न लिखित उदाहरण देखिए:

"श्रमण-काल आरम्भ होने से पूर्व भिक्षुओं के वार्षिक सम्मेलन व उपोस्थ समारोह के समय पूर्णिमा की एक रात्रि को भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के बीच खुले आकाश के नीचे बैठे थे।

और फिर भगवान् बुद्ध ने मौन भिक्षुओं को देखकर कहा:

" 'शिष्यो, मैं तुमसे जानना चाहता हूँ कि तुमने मेरे वचन अथवा कर्म में क्या कभी कोई दोष देखा ?' " [सं० नि० i 190]

एक और उदाहरण: जब एक ब्राह्मण ने उनसे पूछा, "क्या आप दिन के समय सोने की अनुमति देते हैं ?" तो उन्होंने पूर्ण स्पष्टवादिता के साथ स्वीकार किया कि "मैं स्वीकार करता हूँ कि ग्रीष्म-काल के अन्तिम मास में भिक्षा माँगकर लौटने और भोजन करने के बाद मैं अपनी चादर की चार तह करके उस पर दाहिनी करवट लेकर सो जाता हूँ।" उनकी छोटी-छोटी त्रुटियों में भी उनकी महानता जितना ही आकर्षण था। वह दैवी गुणों के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए सदा सजग रहते थे; एक बार उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था, "भाइयो, चार पवित्र सत्यों के ज्ञान के अभाव के कारण ही मैं और तुम इस नीरस संसार की यात्रा करते चले आ रहे हैं।" हम सदा यह समझते रहते हैं कि "यही सर्वोच्चतम है; इससे आगे कोई व्यक्ति नहीं पहुँच सकता !" (दाह्ल्के)।

बुद्ध अपने विरोधियों के साथ वाद-विवाद करते समय एक अविचल गम्भीरता बनाए रखते थे, और यह उनकी नैतिक एवं मानसिक शक्ति का प्रमाण था। गम्भीर-से-गम्भीर वाद'विवाद के बीच वह शान्त भाव से बैठे रहते और उनके मुख पर उत्तेजना का कोई चिह्न न दिखाई देता,

"उनकी त्वचा दीप्तिमय स्वर्ण के रंग की होती" "उनका मुख शांत" और "वाणी गरजते हुए सिंह की तरह।" उन्होंने स्वयं कहा है, "इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि किसी के भी साथ वाद-विवाद करते समय मैं बौखला जाऊँ अथवा खीझ उठूँ; और क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस बात की सम्भावना नहीं है इसीलिए मैं आत्म-विश्वास के साथ शान्त बना रहता हूँ।" और इस उचित गर्व व आत्म-विश्वास के साथ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य सारिपुत्त से स्पष्ट कहा, "और जब तुम मुझे बिस्तर पर लिटाकर ले जाओगे तो भी मेरी बौद्धिक शक्ति इतनी ही प्रखर रहेगी। पिलोतिक नामक यात्री के इस कथन में बुद्ध की 'बौद्धिक शक्ति' का अच्छा प्रमाण मिलता है कि उसने वाद-विवाद में पारंगत विद्वान् क्षत्रियों, ब्राह्मणों और साधुओं को अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से विचारों के जाल बुनकर और चतुराई के साथ सोचे हुए प्रश्नों से बुद्ध को फाँसने की कोशिश करते और अन्त में मात खाकर स्वयं अपना मत परिवर्तन करते देखा है। (म० नि० i, १७५ तथा उससे आगे के पृष्ठ)। वाद-विवाद में उनके शान्त स्वभाव व उनकी सफलता का प्रमाण उस शास्त्रार्थ से भी मिलता है, जिसके लिए सच्चक नामक नागा साधु ने वैशाली में ५०० लिच्छिवि सामन्तों के सामने उन्हें ललकारा था। सच्चक का कहना था कि शरीर ही आत्मन् है, जिसका बुद्ध ने इन शब्दों में खंडन किया, "यदि शरीर ही आत्मन् है तो क्या व्यक्ति अपने शरीर को उसी प्रकार वश में रख सकता है जिस प्रकार कि पसेनदि और अजातशत्रु-जैसे राजा अथवा वज्जि और मल्ल-जैसे जनतन्त्र अपने राज्यों में जीवन और मृत्यु, और निर्वासन आदि पर पूर्ण अधिकार रखते हैं? अन्त में सच्चक ने स्वीकार किया, "हे श्रद्धेय गौतम, हमारी बुद्धि विकृत हो चुकी थी और हमने अपने दम्भ में यह समझ रखा था कि तर्क में हम आप पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। आप पर विजय प्राप्त करना ऐसा ही है जैसे कि मदमस्त हाथी अथवा धधकती हुई आग या जहरीले साँप के मुँह से अछूता बचकर निकल आना। क्या श्रद्धेय

गौतम अपने शिष्यों के साथ कल हमारे यहाँ भोजन करना स्वीकार करेंगे ?"

और अन्त में, उनकी महानता का एक कारण यह भी था कि उन्होंने अपनी आध्यात्मिकता और समाज-सेवा के अपने प्रत्यक्षवादी आदर्श के बीच सामंजस्य रखा। वह इस संसार में रहते हुए भी इसके बाहर थे। राजनीति और राज्य-संचालन-सम्बन्धी उनकी सलाहों की बहुत माँग थी। उनका आदर और अनुसरण करने में राजा कृषकों से होड़ लगाते थे। यदि शाक्य और कोलियों के बीच रक्तपात होने की सम्भावना होती तो उन्हींकी मध्यस्थता उसे रोक पाती थी। यदि मगध का सम्राट् किसी पड़ोसी जनतन्त्र की स्वतन्त्रता नष्ट करने की योजना बना रहा होता तो इस विषय में पहले वह बुद्ध की राय ले लेना आवश्यक समझता। यदि शाक्य-राज्य के लिए कोई नया प्रधान नियुक्त होता तो उसे पहले बुद्ध का उपदेश सुनना होता! उनके सामने बड़े-बड़े सम्राट् तक अपने अपराधों को स्वीकार करते और भविष्य में अपने सदाचरण का उन्हें आश्वासन देते! उन्होंने अपने जमाने के युद्धों में भी दिलचस्पी दिखाई थी, जैसे कि कोसल और काशी के राजा पसेनदि तथा अजातशत्रु के दो परस्पर-युद्धों में, जिसमें पहले युद्ध में पसेनदि को पीछे हटना पड़ा था, पर दूसरे में उसने 'अपने भतीजे' अजातशत्रु को जीवित पकड़ लिया था (स०नि० i, ८१-८३), और कोसल के विडूडभ तथा शाक्यों के परस्पर युद्ध में भी, जिसको रोकने का उनका प्रयत्न असफल रहा था। युवावस्था से ही पसेनदि बुद्ध का अनुयायी था और हर बात में उनकी सलाह लेता था, चाहे वह भोजन-सम्बन्धी हो अथवा कन्या जन्म, दिनचर्या या १२० वर्ष की आयु में किसी दादी की मृत्यु, विधान और न्याय अथवा किसी युद्ध के बारे में हो (उपरोक्त ग्रन्थ)। अतः इस प्रकार राजाओं को सलाह देकर बुद्ध उनके प्रशासन पर अथवा जनता के हित के लिए अपना प्रभाव डालते थे। उस युग के राजतन्त्र और स्वतन्त्र राज्य, जैसे कि शाक्य और कोसल अथवा लिच्छिवि और

मगध पारस्परिक द्वेष रखते हुए भी बुद्ध का सम्मान करने व उनकी सलाह पाने के लिए समान रूप से तत्पर रहते थे। हर जगह वह स्वतन्त्रता के साथ जा सकते थे और हर जगह उनका स्वागत होता था।

बुद्ध अपने जीवन में तो महान् थे ही पर अपनी मृत्यु में वह महान्-तर बन गए। एक धर्म के प्रवर्त्तक को अपने जीवन में व मृत्यु के बाद भी उस धर्म में कोई स्थान न मिला। आरम्भिक बौद्ध धर्म स्वयं बुद्ध से स्वतन्त्र है, उनका व्यक्तिगत पहलू उसके लिए नगण्य है। संसार का अन्य कोई धर्म अपने प्रवर्त्तक के द्वारा ऐसे आत्म-त्याग का उदाहरण पेश नहीं कर सकता! जब उनके अन्तिम समय में आनन्द ने उनसे बौद्ध-संघ के लिए आदेश प्राप्त करना चाहा तो उन्होंने अपनी स्वाभाविक महानता के साथ उत्तर दिया; "तो मैं क्या करूँ, आनन्द? क्या संघ को मुझसे यही आशा है? मैंने साधारण और गुप्त सिद्धान्तों का भेद किये बिना ही सत्य का प्रचार किया है, तथागत ने उस गुरु की तरह अपनी मुट्ठी कभी बन्द नहीं रखी, जो कुछ चीजें अपने पास छिपाए रखता है······ अब तथागत का यह विचार है कि उन्हें संघ का नेतृत्व नहीं करना चाहिए और न संघ को उन पर निर्भर रहना चाहिए? तो फिर क्यों संघ के सम्बन्ध में किसी भी विषय पर मैं कोई आदेश छोड़-कर जाऊँ।"

"अतः आनन्द, तुम स्वयं अपने प्रकाश-स्तम्भ बनो! तुम स्वयं अपनी शरण लो! किसी बाहरी आश्रय का सहारा न लो! सत्य के प्रकाश में ही आगे बढ़ो! सत्य का ही आश्रय लो! अपने अतिरिक्त और किसी के आश्रित बनने की बात न सोचो!"

इसी भावना के साथ उन्होंने कहा है कि "जो भाई या बहन सदा छोटे या बड़े कर्तव्यों का पालन करता है, जो जीवन में उचित पथ पर चलता है, सब नियमों का पालन करता है वही श्रद्धांजलि का उपयुक्त-तम पात्र है।" और अन्त में जब आनन्द ने फिर पूछा : "हमें तथागत के अवशेषों का क्या करना होगा, भगवन्?" तो उनका अन्तिम उपदेश

था : "तथागत के अवशेषों का सम्मान करने में अपना काम मत रोको, आनन्द ! मैं तुम्हारे अपने हित में तुमसे विनती करता हूँ, आनन्द, तुम अपनी लगन में लगे रहो ! अपने हित के लिए अपने आपको लगाओ ! अपनी भलाई के लिए सदा उद्यत सदा तत्पर रहो, आनन्द !

और जब मैं न रहूँ तो संघ के लिए जिन सत्यों व नियमों का मैंने निर्देशन दिया है उन्हें ही तुम सब अपना गुरु समझना !"

हम उनके जीवन-चरित्र की संक्षिप्त झाँकी चम्पा के सोणदण्ड नामक विद्वान् ब्राह्मण के उन शब्दों में पुनः पा सकते हैं जो कि उसने अपने नगर में आए हुए ५०० ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए कहे थे :

"सज्जनो, आदरणीय गौतम की नसों में अपने माता-पिता की पिछली सात पीढ़ियों से शुद्ध रक्त बहता है, उनमें कहीं कोई कलंक नहीं है और जन्म तथा कुल की दृष्टि से कहीं कोई दोष नहीं है।

"वह अपने बहुत-से सम्बन्धियों को, स्वर्ण और सम्पदा त्यागकर धार्मिक जीवन में प्रविष्ट हुए थे जबकि वह युवक ही थे, जबकि उन पर पौरुषोन्मुखी सौन्दर्य छाया हुआ था और उनके सिर का एक भी केश सफेद नहीं हुआ था।

"अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध, उन्हें रोता और उनके कपोलों पर आँसुओं की धारा बहते देखकर भी उन्होंने अपने सिर और दाढ़ी के बाल काट डाले और पीतवस्त्र धारण करके गृह त्याग कर वह अनागरिक हो गए।

"वह सुन्दर हैं, उनमें आकर्षण है, उन्हें देखकर हृदय में उनके प्रति स्वतः ही विश्वास जाग उठता है; उनका सुन्दर गौर वर्ण है और भव्य व्यक्तित्व है।

"उनमें अर्हतों-जैसे सब सद्गुण मौजूद हैं; उनकी मृदु वाणी है और मृदु भाषण है, वह विनम्र और स्पष्ट शब्दों में किसी भी विषय को समुचित रूप से व्यक्त कर सकते हैं।

"वह अनेक शिक्षकों के शिक्षक हैं; उन्होंने ब्राह्मण जाति को अपने

उपदेशों में सदाचरण का पाठ सबसे अधिक पढ़ाया है।"

"सुदूर देशों से लोग उनसे प्रश्न पूछने आते हैं और वह सबका स्वागत करते हैं, सबसे मिलते-जुलते हैं, सबको समझाते-बुझाते हैं, किसी से भी गर्व नहीं करते और वार्तालाप में पीछे नहीं रहते।

"जब कि कुछ समय और ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार के महत्वहीन कार्यों से (जैसे कि वस्त्र धारण न करके आदि) ख्याति प्राप्त की हैं, उन्होंने पूर्ण सदाचरण और सद्व्यवहार से ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है।"

"और मगध के राजा, सेनिय बिम्बिसार, कोसल के पसेनदि तथा प्रमुख ब्राह्मण शिक्षक पोक्खरसादि सभी अपनी पत्नियों, बाल-बच्चों, अपने अनुचरों व साथियों सहित उनका विश्वास तथा उनकी श्रद्धा करते थे।" (सोणदण्ड सुत्त)।

'घर का जोगी जोगड़ा' वाली कहावत बुद्ध पर चरितार्थ नहीं होती।" वह अपने समय में अपनी लोकप्रियता व अपने सम्मान के कारण हर जगह और समाज के सब वर्गों में समुचित आतिथ्य सत्कार पाते थे। उनके आतिथेयों में बिम्बिसार-जैसे राजा (महा० पि० i २२), सुनिधा व वस्सकार-जैसे राज्य-मन्त्री (महा० परि० सुत ३०), राजगृह के सेठि अवाधपिंडिक जैसे व्यापारी नरेश (यु० व vi ४.१), कस्सप-जैसे कट्टरपंथी ब्राह्मण नेता (महा० वि० i १६), लिच्छिवियों के प्रधान सेनापति सहि जैसे सामरिक नेता (उपरोक्त ग्रंथ vi २९) वैशाली की अम्बपाली (महा० परि० सुत्त, ii) बनारस की सुप्पिया (महा० वि०) अथवा विशाखा-जैसी धनी स्त्रियाँ थीं जो कि भिक्षुओं को वस्त्रादि देती थीं, तथा चुंड नामक लुहार-जैसे विभिन्न जातियों के गरीब व साधारण लोग व गृहस्थ भी उनके आतिथेय रह चुके थे। जनतन्त्रों की जनता भी उनका आदर-सत्कार करने में राजतन्त्रों से पीछे न थी। कुसिनारा के मल्लों ने आपस में निर्णय कर रखा था कि "जो कोई भी भगवान् बुद्ध का स्वागत करने जायगा उसे ५०० मुद्राएँ देनी होंगी।" कुसिनारा के नागरिकों ने भी बारी-बारी से बौद्ध संघ के लिए भोजन

का प्रबन्ध करने का आपस में निर्णय कर रखा था। किन्तु अतिथि-सत्कार में मेंडक नामक गृहस्थ ने सम्भवतः सबको मात कर रखा था। मगध राज्य के भद्दिय नगर में बौद्ध संघ के आने पर वह उनके दैनिक भोजन का प्रबन्ध करता और उनकी आगे की यात्रा में भी नमक, तेल, चावल व अन्य खाद्य सामग्रियों की गाड़ियाँ भरवाकर तथा १२५० ग्वालों व उतनी ही गायों को उतने ही भिक्षुओं के लिए ताजे दूध का प्रबन्ध करने के लिए साथ रखता था। बौद्ध धर्म न मानने वाले भी उत्साह के साथ उनके आतिथेय बनते थे और इसका श्रेय बुद्ध की मानवीयता को है कि लोगों ने जाति और धर्म से ऊपर उठकर विश्व-जनीन रूप में उसे अंगीकार किया था। ऐसे ही लोगों में आपण का जटिल केणिय था (सुत्त निपात, iii, २१-२२), जिसने बुद्ध तथा उनके शिष्यों को एक भव्य भोज पर आमन्त्रित किया था। जिसके उपरान्त बुद्ध ने ब्राह्मण धर्म के कुछ आवश्यक अंगों पर प्रकाश डालते हुए प्रवचन किया था। ऐसा ही मगध राज्य का एक उच्चाधिकारी था जो कि आजीविकों का अनुयायी था (चु० व० iv १०, १)। किसी ब्राह्मण के हवन के पास बैठकर, किन्तु उसके द्वारा की जाने वाली पूजा की आलोचना न करते हुए बुद्ध के व्याख्यान का उल्लेख कई स्थलों पर पढ़ने को मिलता है। (म० नि० ७५)।

बुद्ध ने कभी भी अपने आतिथेयों की सज्जनता से न तो कभी बेजा फ़ायदा उठाया और न उनके अतिथि-सत्कार का कभी दुरुपयोग किया। वह विशेषतः इस बात का ध्यान रखते थे कि भोजनोपरान्त प्रवचन सुनने वाला व्यक्ति उनके अस्थायी प्रभाव से कहीं जल्दी में ही तो अपना मत-परिवर्तन नहीं कर लेता है। ५०० जटिल अनुयायियों के नेता उरुवेला कस्सप द्वारा अपने साथियों को छोड़कर बौद्ध धर्म अपनाने के लिए तैयार होते समय उन्होंने उससे कहा था कि "वह पहले अपने साथियों को अपना विचार सूचित कर आए।" उन्होंने इस बात का भी पूरा ध्यान रखा था कि कहीं उनकी अनुपस्थिति से कस्सप की ख्याति

को क्षति न पहुँचे जिसके कारण "अंग व मगध की समस्त जनता" व उसके पास "भरपूर कच्ची तथा पक्की भोजन सामग्री" लेकर आती थी (म० वि० i, १८, २०)। सेनापति सीह को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करने से पूर्व उन्होंने उससे अपने सहधर्मियों को छोड़कर उन्हें असहाय बनाने से पूरी तरह रोका था। (म० वि० vi, ३१, II)। कहा जाता है कि सबसे अधिक लगन के साथ वह अपने शिष्यों को उपदेश देते थे, फिर अन्य कार्यों में लगे हुए अनुयायियों को, फिर ब्राह्मणों, साधुओं व अन्य धर्मावलम्बियों को उपदेश देते थे "जैसे कि एक ज़मींदार पहले सबसे अच्छा खेत बोता है, फिर मध्यम और अन्त में सबसे बुरा खेत।" (स० नि० xiii ७)।

बुद्ध के जीवन व उनके कृत्यों के भारतीय दृष्टिकोण को बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध पश्चिमी पण्डित पॉल (Dablke) ने बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है :

"सम्भवतः संसार में कभी भी किसी ने मानव-विचार पर इतना भीषण प्रभाव नहीं डाला जितना कि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम ने। यह कथन उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निःशंक तथ्य बन जाता है जो उस व्यर्थ की दकियानूसी से मुक्त हो जाता है; जिसके अनुसार 'संसार' शब्द से केवल यूनानी-रोमान-ईसाई संस्कृति के केन्द्र और उस केन्द्र से समय-समय पर होने वाले प्रस्फुरणों का ही बोध होता है। यह कथन पुनः उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निर्विवाद तथ्य बन जाता है जो 'संस्कृति' शब्द का अर्थ आरामतलबी की ज़िन्दगी बसर करना और जल्दी रुपया कमाने से कुछ और अधिक समझता है; जो यह समझता है कि प्रगति बहिर्मुखी दिशा में ही अग्रसर नहीं होती, बल्कि वास्तविक विकास उस अन्तर्मुखीपन में है जो उस वस्तु को समझने और उसे प्राप्त करने में लगा है जिसके बारे में दुनिया कुछ नहीं जानती या जिसके प्रति वह उदासीन हो या हो सकता है जिसे वह तिरस्कृत समझती हो। जो यह समझ लेगा वह यह भी समझ लेगा कि प्रायः ढाई हज़ार

वर्ष पहले ही आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर पर पहुँच चुका था। कि उस सुदूर काल में गंगा-तट पर स्थित शान्त आश्रमों में मानव के उच्चतम विचार पर पहुँचा जा चुका था। वह यह जान पायगा कि समय के साथ केवल बाहरी खोल ही बदला है अन्दर का सार नहीं; अभिव्यञ्जना की शैली बदली है, अभिव्यक्त वस्तु नहीं; और युग-युगान्तर तक यह ऐसे ही चलता रहेगा। उस बुद्ध-विचार से उच्चतर विचार नहीं जो संसार का विलीन करके साथ में अपने प्रवर्तक को भी विलीन कर देता है।

"यह वह ज़माना था जब कि सर्वोच्च की खोज में, इस संसार से परे मिलने वाले परमानन्द की लगन में से लगे हुए जीवन को पागलपन नहीं बल्कि सम्मान का पात्र समझा जाता था। यह वह ज़माना था, वह अपूर्व युग था, जिसमें सत्य और सदाचार का उपदेश नहीं बल्कि उसे अपने जीवन में उतारना स्वाभाविक समझा जाता था। यदि ऐसी सतत एकरूपता का श्रेय किन्हीं भी व्यक्तियों को दिया जा सकता है तो गौतम बुद्ध की गणना निश्चय ही उन व्यक्तियों में होगी।" ('बुद्धिस्ट ऐसेज', पृष्ठ १८-१९)।

अशोक

(२७४—२३६ ई० पू०)

बहुधा बहुत-से लोग यह समझते हैं कि प्राचीन हिन्दुओं में केवल अमूर्त कल्पना की ही प्रतिभा थी, जिसका प्रमाण यह है कि उन्होंने दर्शन व धर्म के अनेकानेक सिद्धान्तों का सृजन किया था; इसके साथ व्यावहारिक निपुणता व सामर्थ्य में उनकी हीनता सर्वविदित है; फलतः प्राचीन भारत में भौतिक अध्यवसायों की उपेक्षा करके जीवन के आध्यात्मिक अध्यव्यसाओं का असंगत रूप से पोषण हुआ था। अशोक का राज्य, और वास्तव में, भारत का समस्त इतिहास इस मान्यता का खण्डन करता है। भारतीय इतिहास के समस्त अंगों का, उसके राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं का, अध्ययन करने वालों को यह मानना पड़ेगा कि भारत केवल अपने साहित्य और दर्शन, अपने धर्म और अपनी आध्यात्मिकता के कारण ही महान् न था, बल्कि अपनी कला व कौशल के कारण भी, जिसने उसकी भौतिक समृद्धि का निर्माण करके उसके द्वारा निर्मित अनेकों पदार्थों तथा उसकी बहुमूल्य वस्तुओं को संसार के व्यापारिक राष्ट्रों में प्रमुख स्थान दिलाया था। अशोक के शासन-काल में भारत इस भौतिक प्रगति, और एक अर्थ में, नैतिक प्रगति के भी एक बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच चुका था। उसने आदर्शों के क्षेत्र की भाँति ही व्यावहारिक कार्यों के क्षेत्र में भी अपनी महानता प्रदर्शित की थी।

अशोक ने कला और उपयोगिता की अनेकों कृतियों से, नगरों व प्रासादों से, स्तूपों व चट्टानों में बने गुहावासों से पशु-पक्षियों और वृक्षों तथा पुष्पों की सुन्दर आकृतियों से अलंकृत वास्तु-कला-कृतियों तथा शिल्प-कृतियों से, सिंचाई के लिए जलाशयों, बाँधों और नहरों से; यात्रियों के लिए कुओं तथा सड़कों के किनारे लगे वृक्षों व विश्राम-गृहों से; मनुष्यों व पशुओं के चिकित्सालयों और जनता के लिए औषधियाँ प्राप्त करने के लिए जड़ी-बूटियों के उद्यानों से, और ऐसी ही अनेकों अन्य वस्तुओं से अफ़गानिस्तान से मैसूर तक फैले हुए अपने विशाल साम्राज्य को विभूषित करना आरम्भ किया, जो उसे उत्तराधिकार में मिला था पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जीवन के सुख तथा आनन्द के लिए सुव्यवस्था कायम करने के साथ ही अशोक ने अपने साम्राज्य में प्रशासन के कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रचलित किए थे जिनकी व्यापकता और दूरदर्शिता, जिनकी मानवीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीय भावना आज भी आधुनिक संसार को प्रेरणा देती है। उसने अहिंसा, विश्व-शान्ति, मनुष्य और प्रत्येक चेतन प्राणी के बीच परस्पर शान्ति के सिद्धान्त पर, अपना साम्राज्य आधारित किया था, फलतः वह सदाचार का साम्राज्य था, सत्य पर, न कि बल पर आधारित साम्राज्य था और इसी कारण वह अपने युग से इतना आगे था कि पशु से मानव तक के कष्टकर विकास की नियत तथा सामान्य ऐतिहासिक प्रक्रिया का भार सहन नहीं कर सकता था। उसने विभिन्न जातियों व धर्मों से सम्बन्ध रखने वाली प्रजा को आचार-विचार-सम्बन्धी कुछ ऐसे सार्वलौकिक और मौलिक आदर्श प्रदान किये थे जिनके कारण मानवता ने उसमें सार्वजनीन नैतिकता और धर्म का अपना प्रथम गुरु पाया। उनके विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में पाई जाने वाली शिलाओं और घोषणा-स्तम्भों पर आज भी नीति और नैतिकता के यह सिद्धान्त अमिट शब्दों में अंकित पाए जाते हैं। यह शिला-लेख एक प्रकार से सम्राट् अशोक की

आत्म-कथा हैं, उसके स्मरणीय इतिहास के अति महत्त्वपूर्ण एवं फल-दायक प्रभव हैं।

हमें उसके नैतिक कृत्यों व आदर्शों के क्षेत्र में उसके योगदान का अध्ययन करने से पूर्व सर्वप्रथम उसके उन व्यावहारिक कृत्यों को देखना चाहिए जो कि उसके पार्थिव स्मारकों में लिखित हैं। इन स्मारकों में सबसे महत्त्वपूर्ण उसके शिला-लेख हैं, और कहा जाता है कि, क्योंकि शिला-लेखों में अपने विचारों को अंकित करने का तरीका भारत के लिए नया था, उसने यह विचार एक विदेशी पूर्ववर्ती उदाहरण से, फारस के सम्राट् द्वारा के शिला-लेखों से प्राप्त किया था। अधिकाधिक जनता द्वारा पढ़े जाने के लिए लिखे गए ये लेख अनिवार्यतः देश की जनसंख्या के समस्त प्रमुख केन्द्रों में स्थित थे, और क्योंकि उन्हें चिरकाल तक कायम रखना था, उन्हें सबसे अधिक चिरकालीन सामग्री, पत्थर पर अंकित किया गया था। इस प्रकार प्रचार और स्थायित्व की दोहरी आवश्यकता ने अशोक की घोषणाओं के भौगोलिक विभाजन को निर्धारित किया था। जहाँ प्रकृति की ओर से इन घोषणाओं के प्रकाशन की सुविधा न थी वहाँ कला की सहायता ली गई, इस कार्य के लिए विशाल स्तम्भ बनाये गए और उन्हें उन स्थानों पर खड़ा किया गया जहाँ कि सम्राट् के सन्देश अंकित करने के लिए उपयुक्त पर्वतीय भूमि न थी। स्वयं एक घोषणा यह सूचित करती है कि "सम्राट् का यह सन्देश चट्टानों पर अथवा जहाँ इसकी सुविधा हो शिला-खंडों तथा शिला-स्तम्भों पर अंकित किया जाना चाहिए (शिलाठुभे शिलाथम्भसि)।" [अप्रमुख शिला-घोषणा १, रूपनाथ लेख]। अतः ये घोषणाएँ दो प्रकार की हैं : शिला-घोषणाएँ और स्तम्भ-घोषणाएँ।

एक विभाग की चौदह शिला-घोषणाएँ २० अक्षांशों और १३ देशान्तरों के बीच तेरह विभिन्न स्थानों में पाई गई हैं। वे स्थान ये हैं :

(१) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में पेशावर के निकट शाहबाजगढ़ी,

जहाँ कि एक पहाड़ी की ढाल पर एक फुट लम्बी और १० फुट ऊँची चट्टान पर यह घोषणाएँ अंकित हैं। पास ही एक दूसरी चट्टान पर बारहवीं घोषणा है जिसमें उन लोगों के लिए सहिष्णुता के सिद्धान्त पर ज़ोर दिया गया था जिन्हें सम्भवतः इस शिक्षा की विशेष आवश्यकता थी।

(२) उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में स्थित मनसेरा नामक स्थान, जहाँ एक चट्टान पर एक ओर केवल सहिष्णुता का लेख ही अंकित है।

इन दोनों लेखों को उस प्रान्त की बाईं से दाहिनी ओर लिखी जाने वाली प्रचलित भाषा खरोष्ठी में लिखकर स्थानीय रूप दिया गया है।

(२) देहरादून के निकट कालसी में, जो कि जमुना और तौंस नदी के संगम पर निश्चय ही एक जन-बहुल केन्द्र रहा होगा, एक सफेद बिल्लौर की चट्टान पर अभिलेख अंकित है।

(४) बम्बई के थाना ज़िले में समुद्र-तटवर्ती सोपारा, जिसका पालि ग्रन्थों में सूरपारक नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह के रूप में उल्लेख है।

(५) काठियावाड़ के पास गिरनार, जहाँ कि सिंचाई के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा बनाया हुआ और अशोक द्वारा पूरा किया हुआ जलाशय, जलद्वार तथा साथ की नहरें हैं; जिनका उल्लेख बाद में किया जायगा। जलाशय के किनारे ही एक पथरीली चट्टान पर लेख अंकित है।

(६) उड़ीसा के पुरी ज़िले में धौली जहाँ कि विशेषतः ढलवाँ बनाई हुई एक शिला पर लेख अंकित है। उसी स्थान में पाई गई कलिंग-घोषणा में इस स्थान का नाम 'तोसली' बताया गया है।

(७) गनजाम ज़िले में जौगड़, जहाँ कि एक प्राचीन नगर के बीच में जिसका नाम उस समय सम्भवतः समापा (कलिंग-शिला-लेख १) एक स्फटिक-शिला पर लेख अंकित है।

अशोक के नये जीते हुए प्रान्त कलिंग में पाई जाने वाली इन

दोनों प्रकार की घोषणाओं में घोषणा ११, १२ और १३ शामिल नहीं हैं, क्योंकि वे उस स्थान के लिए उपयुक्त न थीं और इसलिए उनकी जगह नई घोषणाएँ जारी की गईं; जिन्हें कलिंग-घोषणाएँ १ और २ या सीमान्त व प्रान्तीय लेख कहा जा सकता है।

(८) मैसूर के चित्तल दुर्ग में, जहाँ कि सिद्दपुर, जतिंग-रामेश्वरी और ब्रह्मगिरि नामक तीन विभिन्न स्थानों में अशोक के वे प्रारम्भिक शिला-लेख हैं जिन्हें अप्रमुख शिला-लेख १ व २ कहा गया है। मैसूर की ये घोषणाएँ दक्षिण में सुवर्णगिरि के युवराज व राजप्रमुख द्वारा जारी की हुई प्रतीत होती हैं।

(९) जबलपुर ज़िले में रूपनाथ, जहाँ कि एक के ऊपर एक तीन कुण्डों के पास तथा एक चट्टान पर बने हुए शिव-मन्दिर के पास एक पृथक् शिला-खण्ड पर अप्रमुख शिला-लेख १ अंकित है, और यह स्थान आज भी यात्रियों को आकृष्ट करता है।

(१०) बिहार के शाहाबाद ज़िले में सहसराम, जहाँ कि एक पहाड़ी की चोटी के पास एक कृत्रिम गुफा में चट्टानी सतह पर अप्रमुख शिला-लेख १ अंकित है।

(११) राजस्थान में बैरात जहाँ कि बैरात नामक प्राचीन नगर के निकट एक मकान जितनी बड़ी ज्वालामुखी शिला पर अप्रमुख शिला-लेख १ अंकित है।

(१२) निज़ाम हैदराबाद में मस्की, जहाँ अप्रमुख शिला-लेख १ भी मिलता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि इतने सुदूर स्थानों में मिलने वाला अप्रमुख शिला-लेख १ एक विशेष महत्त्व रखता है।

(१३) राजस्थान में भावरा, जहाँ कि बैरात से लाये गए शिला-खण्ड पर अप्रमुख शिला-लेख १ के साथ बौद्ध-लेखों के कुछ अंश अंकित हैं। बैरात की एक दूसरी पहाड़ी की चोटी पर स्थित एक बौद्ध-मठ में इस शिला-खण्ड पर लेख अंकित किया गया था।

अतः अप्रमुख शिला-लेख १ में दिये हुए निर्देशनों के अनुसार यह लख चट्टानी सतहों (पर्वतेसु) पर हैं; किसी नदी के किनारे जैसे कालसी में, झील के किनारे जैसे गिरनार में, अथवा पृथक् शिला-स्तूपों पर; जैसे कि अन्य स्थानों में।

सम्राट् अशोक की अन्य घोषणाओं से अंकित शिला-स्तम्भ निम्न-लिखित स्थानों में पाये गए हैं—(१) अम्बाला ज़िले में तोपरा; (२) मेरठ; (३) कौशाम्बी—यहाँ शिला-स्तम्भ घोषणाएँ १-६, साम्राज्ञी की घोषणा और जिसे कौशाम्बी-घोषणा कहा जाता है मिलती हैं; (४) चम्पारन ज़िले में लौरिया-अरराज; (५) उसी ज़िले में लौरिया नन्दनगढ़; (६) उसी ज़िले में रामपुरवा; (७) भोपाल के निकट सांची जहाँ कि अप्रमुख स्तम्भ, सारनाथ स्तम्भ और कौशाम्बी स्तम्भ की घोषणाएँ कुछ बदलकर अंकित हैं; (८) बनारस के निकट सारनाथ; (९) नेपाल में रूम्मिनदेइ; (१०) नेपाल की तराई में निगलीवा।

ये अशोक-स्तम्भ इञ्जीनियरिंग वास्तु-कला तथा शिल्प-कला के अनोखे नमूने हैं। पत्थर की विशाल अखण्ड शिलाओं को काट-छीलकर लगभग ५०-५० टन भारी और ५०-५० फीट ऊँचे स्तम्भ बनाये गए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी खम्भे चुनार की पहाड़ियों में से काटे गए थे, क्योंकि एक-से बने हुए इन सब खम्भों के अच्छे पत्थर का वही सबसे निकट प्रभव था। उन विशालकाय स्तम्भों को अपने बनने की जगह से लगाए जाने की सुदूर जगहों तक ले जाना निश्चय ही एक समस्या रही होगी। इस समस्या की कठिनाई का इस बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि कई शताब्दियों बाद सन् १३५६ में जब सुल-तान फीरोज़शाह ने तोपरा के स्तम्भ को, जो कि विशेष दूर न था, दिल्ली पहुँचवाया तो जिस गाड़ी में यह स्तम्भ रखा गया था उसे खींचने के लिए ८४०० आदमी लगे थे; उस गाड़ी में ४२ पहिए थे और प्रत्येक पहिए को २०० आदमियों ने मिलकर खींचा था! किन्तु यह भारी और लम्बे स्तम्भ बहुत ही नाज़ुक और कलात्मक कारीगरी के नमूने थे।

जैसा कि विनसेंट स्मिथ ने स्वीकार किया है उनमें एक ऐसी चमक थी, "जैसी कि कोई भी आधुनिक राजमिस्त्री नहीं ला सकता।" और, उन स्तम्भों के ऊपरी भाग की बनावट बहुत ही सुन्दर है जिनमें (१) पेर्सी-पोलिटन-शैली में घण्टे की शक्ल का एक भाग है जिसे हैवल ने कमल का फूल बताया है; (२) और उसके ऊपर एक गोल अथवा आयताकार पत्थर होता है जो कि उसे आधार का काम देता है जिस पर (३) किसी पशु की आकृति टिकी होती है, जैसे सिंह की, जैसे कि लौरिया-नन्दन-गढ़ और रामपुरवा के स्तम्भों पर और मुज़फ्फरपुर ज़िले में बखीर के अंक-रहित स्तम्भ पर है, अथवा बैल की आकृति; जैसी कि रामपुरवा में पाये गए अंक-रहित स्तम्भ पर है, अथवा हाथी या गरुड़ की आकृति, जैसी कि लौरिया-अरराज में है। कभी-कभी एक सिंह के बजाय चार सिंह एक-दूसरे की ओर पीठ करके बैठे होते हैं जिनके बीच एक पत्थर का चक्र होता है (धर्म चक्र) जैसा कि साँची और सारनाथ के स्तम्भों पर पाया गया है। सर जॅन मार्शल के अनुसार घण्टे की शक्ल की आकृति और सिंह दोनों ही कला और प्रविधि की दृष्टि से अनुपम कृतियाँ हैं। लौरिया-नन्दनगढ़ के स्तम्भ के ऊपरी आधार पर दाना चुनते हुए कलहंसों के एक झुण्ड का एक चित्र भी उभारा गया है (सम्भवतः उन्हें बुद्ध के शिष्यों के झुण्ड का प्रतीक बनाया गया है); जब कि इलाहाबाद-कौशाम्बी के स्तम्भ पर "पुष्पों की एक गुँथी हुई माला पर पद्म और हनीसकल नामक पुष्प को क्रमानुसार आधारित दिखाया गया है।"

रामपुरवा के अंक-रहित स्तम्भ में देखा गया है कि घण्टे की शक्ल वाला भाग स्तम्भ के साथ २ फुट $\frac{3}{2}$ इंच लम्बे और बीच में ४$\frac{5}{16}$ इंच व्यास के तथा कोनों ३$\frac{5}{8}$ इंच व्यास के पीपेनुमा शुद्ध ताँबे के टुकड़े की सहायता से जुड़ा हुआ है।

अशोक को ८४,००० स्तूपों के निर्माण का श्रेय भी दिया जाता है (बुद्ध के शरीर की अस्थियों के ८४,००० कणों के अथवा, एक अन्य

कथनानुसार, धर्म के ८४,००० विभागों के प्रतीक स्वरूप), जिनमें युआन-च्वांग को। ८० स्तूपों का पता था, पर इस समय तक केवल दो ही स्तूपों की खोज हुई है, एक साँची में और दूसरा भरहुत में। निगलीवा स्तम्भ के लेख से मालूम होता है कि अशोक ने बुद्ध कोणागमन के स्तूप को दो बार बड़ा करवाया था।

बरबर पहाड़ियों की सख्त चट्टानों में शीशे की तरह चमकते हुए लम्बे-चौड़े कमरे भी पाये गए हैं जो कि सम्राट् अशोक ने आजीविकों को उपहारस्वरूप भेंट किये थे।

अशोक नगरों और प्रासादों का भी निर्माता था। कहा जाता है कि कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की स्थापना उसीने की थी, जहाँ कि उसने ५०० मठ बनवाए थे, जिनमें से १०० युआन-च्वांग ने भी देखे थे। नेपाल में उसने अपने जामाता देवपाल के नाम पर देवपाटन नामक नगर का निर्माण किया, जहाँ कि देवपाल अशोक की पुत्री चारुमती के साथ आकर बस गया। मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में अशोक ने लकड़ी के इमारती काम को पत्थरों में बदलकर उन पर ऐसी सुन्दर नक्काशी और शिल्पकारी करवाई, जैसी कि फाहियान के शब्दों में "इस संसार में मनुष्य के हाथों द्वारा कभी न हो पाई थी।"

अशोक ने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा आरम्भ की हुई सिंचाई की एक भव्य योजना को भी पूरा किया। यह सुदर्शन नामक झील थी जो कि ऊर्जमत पर्वत पर से बहने वाली सुवर्णसिकता और पलाशिनी आदि कई जलधाराओं पर बाँध लगाकर बनाई गई थी, जिसका वर्णन एक उत्तरकालीन लेख में मिलता है (रुद्रदामन, सन् १५०)। इसी लेख में यह भी कहा गया है कि यह झील या जल-कुण्ड "इस सुदृढ़ता के साथ बना था कि पहाड़ से भी मुकाबला कर सकता था।" यह जल-कुण्ड "मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय राज्यपाल (राष्ट्रीय) वैश्य पुष्यगुप्त के आदेश पर बना था और इसे यवनराज तुषास्फ ने अपनी राज्यावधि (अधिष्ठाय) में अशोक मौर्य के लिए जल-प्रणालियों से

आभूषित किया था।" इस प्रकार "गन्दगी से बचने के लिए इस जल-कुण्ड में सुप्रबन्धित जल-प्रणालियों और नालों की पूरी व्यवस्था थी," जैसा कि उपर्युक्त लेख में कहा गया है। मौर्य सम्राटों द्वारा बनवाये गए सिंचाई के इन संस्थानों के सम्बन्ध में मेगास्थनीज़ ने भी उन मौर्य-पदाधिकारियों का उल्लेख किया है, जिनका काम "ज़मीन की पैमाइश करना और नहरों में जल पहुँचाने वाले जल-मार्गों का निरीक्षण करना था ताकि प्रत्येक व्यक्ति इस लाभ का उचित उपभोग कर सके।"

अन्त में, हमें अशोक के सार्वजनिक उपयोगिता-सम्बन्धी उन अन्य कार्यों का उल्लेख करना चाहिए, जो कि मानव-कल्याण की भावना से न कि आर्थिक विचार से प्रेरित हुए थे। इनका सर्वोत्तम वर्णन स्वयं उसके अपने शब्दों में मिलता है (स्तम्भ-लेख)—"सड़कों पर मैंने वट-वृक्ष लगवाए हैं ताकि मनुष्य और पशुओं दोनों को छाया मिल सके; मैंने आम्र-कुञ्ज लगवाए हैं; प्रत्येक आधे कोस पर मैंने कुएं खुदवाए हैं; विश्राम-गृह बनवाए हैं; और स्थान-स्थान पर मनुष्यों और पशुओं के उपभोग के लिए जल प्राप्त करने के स्थान बनाएं हैं।" एक दूसरे लेख में (शिला-लेख २) अशोक ने चिकित्सालयों के रूप में मनुष्यों तथा पशुओं दोनों ही के लिए चिकित्सा तथा रोगोपचार की व्यवस्था और प्रामाणिक जड़ी-बूटियों, तथा फलों आदि से औषधियाँ प्राप्त करने के लिए उद्यानों तथा औषधालयों की व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने काम का उल्लेख किया है; आवश्यकता पड़ने पर ये दवाएँ बाहर से भी मँगाई जाती थीं।

अब हमें प्रशासन के क्षेत्र में अशोक के व्यावहारिक कृत्यों का अध्ययन करना चाहिए। शासन-कला राजतान्त्रिक प्रशासन-कला, मन्त्र-कला अथवा वास्तु-कला-जैसी सभ्य जीवन की अन्य कलाओं से कम व्यावहारिक नहीं है। इसमें व्यावहारिक योग्यता, प्रजा की आवश्यकता और दशा को स्वयं समझ लेने और व्यापार तथा संगठन की क्षमता की इतनी अधिक आवश्यकता होती है जितनी कि अन्य प्राविधिक एवं

यान्त्रिक कलाओं में नहीं होती।

शासन की समस्या मौर्य-सम्राटों के लिए वैसे भी आसान न थी। शासन या क्षेत्र इतना अधिक व्यापक था कि एक प्राधिकारी एक जगह से बैठकर सुविधा पूर्वक उस पर नियन्त्रण नहीं रख सकता था। अपने पितामह के धार्मिक जीवन अपना लेने की पुण्य स्मृति में उत्तरी सीमान्त से मैसूर तक उसकी सत्ता और उसके सन्देश की घोषणा करने वाले लेखों के फैलाव से ही उसके शासन-क्षेत्र की विस्तीर्णता का अनुमान लगाया जा सकता है। कलिंग-विजय द्वारा इस क्षेत्र में और भी वृद्धि हुई, जिसमें १५०,००० व्यक्तियों को बन्दी बनाकर लाया गया, १००,००० व्यक्ति घायल हुए और इसके कई गुने मारे गए। दोनों पक्षों की नागरिक जनता को भी, अप्रत्यक्ष रूप में, इस लड़ाई में लड़ने वाले अपने मित्रों व आश्रितों को, बहुत दुःख उठाना पड़ा। अपने प्रथम युद्ध की विध्वंसात्मकता के उस प्रायः पूर्णतः आधुनिक मूल्याङ्कन ने ही अशोक को इस निर्णय पर पहुँचाया कि वही उसका अन्तिम युद्ध था, और साथ ही उसे अहिंसा के अधिक कल्याणकारी धर्म अर्थात् बौद्ध-धर्म में निष्ठा के साथ लग जाने की प्रेरणा दी। इस प्रकार पड़ोसी राज्यों और जातियों की स्वाधीनता को नष्ट करके साम्राज्य का विस्तार बढ़ाने का क्रम रुक गया और इसके बाद से नियम यह हो गया कि उनकी स्वतन्त्रता का पूर्णतः सम्मान किया जायगा। अतः मौर्य साम्राज्य अपनी शक्ति और अपने गौरव की पराकाष्ठा पर पहुँचकर भी भारत के सब भागों और सब जातियों को अपने शासन के अन्तर्गत न कर पाया था।

किन्तु, फिर भी वह राज्य इतना विस्तीर्ण था कि उसके अधीन जो विभिन्न प्रदेश थे उनके लिए एक उचित शासन-व्यवस्था स्थापित करने में उच्चतम प्रशासनीय निपुणता और कूटनीतिज्ञता की आवश्यकता थी। इस कार्य का अधिकांश भाग प्रथम मौर्य-सम्राट् ने पूरा किया। किन्तु कई उन महत्त्वपूर्ण नूतन व्यवस्थाओं को आरम्भ करने का श्रेय अशोक को है जिनका उल्लेख उसकी घोषणाओं में मिलता है।

उस शासन-सत्ता का बहुकेन्द्रीय होना अनिवार्य ही था। एकमुखी और केन्द्रीय प्रशासन के लिए ब्रिटिश भारत से बड़े उस साम्राज्य पर उस प्राग-यान्त्रिक युग में जब कि यातायात-व्यवस्था अत्यन्त पिछड़ी हुई थी नियन्त्रण रख सकना असम्भव था। अतः एक सर्वमान्य योजना के अन्तर्गत समस्त साम्राज्य कई प्रान्तीय प्रशासनों और राज्य-पालिकाओं में विभक्त था। सम्राट् ही सत्ता का प्रधान था और सैद्धान्तिक रूप से अथवा वैधानिक रूप से यह प्राधिकार असीमित था। किन्तु, व्यावहारिक रूप में यह प्राधिकार हिन्दू-राज्य की चिरस्थापित परम्पराओं व रीतियों के कारण कई प्रकार से सीमित था। हिन्दू राजा ज़ार या सुलतान की तरह पूर्णतः निरंकुश नहीं हो सकता था। वह देश के समस्त विधानों का प्रभव या स्रोत न था। सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण रखने वाले कुछ धार्मिक नियम थे जिनके राजा से स्वतन्त्र निम्नलिखित प्रभव थे : (१) वेद; (२) स्मृति; (३) शिष्टाचार; और (४) सन्दिग्ध विषयों पर शिष्टजनों की राय, जब कि साधारण लौकिक विधान की उत्पत्ति देश के उन विभिन्न समूहों और समुदायों द्वारा हुई थी जो कि अपने लिए स्वयं विधान बनाते थे। कोई भी केन्द्रीय प्रभुसत्तात्मक संस्था अथवा विधान-सभा न थी जो कि सारे देश के लिए विधान बनाती हो। देश के नियम एक-जैसे अथवा एक ही मान-दण्ड के अनुकूल न होते थे, बल्कि पृथक् स्थानीय परिस्थितियों के अनु-सार पृथक् होते थे। अतः जातियों, जनपदों, श्रेणियों और परिवारों को अपने निजी नियम बनाने का अधिकार प्राप्त था, और राजा व राज्य उन नियमों का आदर करता था। सम्राट् के विधानांग-सम्बन्धी कृत्यों के साथ ही उसके कार्य और न्याय-सम्बन्धी कृत्यों का भी बहुत विकेन्द्री-करण हो चुका था। फलतः जनता अपने विभिन्न समूहों और समुदायों में व्यावहारिक रूप से स्वशासित ही थी। हिन्दू राज्य आज के कई अधिक उन्नत पश्चिमी जनतन्त्रों की तरह ही सामूहिक जीवन और स्वाभाविक संगठनों को प्रोत्साहन प्रदान करता था और इस प्रकार

केवल सैद्धान्तिक रूप में और नाम-मात्र को ही वह एकतान्त्रिक राज्य था। उसकी एकतान्त्रिकता को एक विशाल भूगर्भित जनतन्त्रवाद ने, अपनी परिधि में चालित एक स्वशासित समाज ने, सीमित बना रखा था।

अशोक ने अपने प्राधिकार की नैतिक नींव पर, जनता के अभिभावक होने के नाते उनके कल्याण के प्रति अपने उत्तरदायित्व पर और अधिक जोर दिया। वह कहा करता था कि सब लोग उसके बच्चे हैं और उनके पिता के रूप में वह इहलोक और परलोक में उनके सुख और समृद्धि की सदा कामना किया करता है। (कलिंग-लेख १); और यह कि उसके राज्यपाल प्रजा के सुख और हित के लिए ही नियुक्त किये गए हैं और प्रजा उनकी देख-रेख में उसी प्रकार छोड़ दी गई है जैसे बच्चे निपुण परिचारिकाओं की देख-रेख में छोड़ दिये जाते हैं। (स्तम्भ लेख ४)। प्रजा के प्रति अपने उत्तरदायित्व की भावना के वश उसने एक सार्वजनिक सेवक के रूप में बहुत मेहनत से काम किया। शिला-लेख ६ में उसने अपने पूर्वाधिकारियों की भूलों की आलोचना की और साथ ही इस बात की सार्वजनिक घोषणा की कि सार्वजनिक कार्यों के लिए वह हर जगह हर समय तैयार रहेगा; चाहे भोजन करता हो या शयनागार में हो या चिन्तन करने में व्यस्त हो। इस प्रकार काम करते रहकर भी "वह अपने परिश्रम और कार्य करने की गति पर सन्तुष्ट न था।" (उपरोक्त) और उसके सब कामों के पीछे केवल एक भावना थी कि वह "अपने साथी प्राणियों के ऋण से उऋण हो सके।" (उपरोक्त)

प्रशासन में सम्राट् का मुख्य कार्य स्वभावतः निरीक्षण का ही था, जिसके लिए प्रतिवेदक (शिला-लेख ६) कहे जाने वाले पदाधिकारियों के एक विशेष विभाग पर वह निर्भर रहता था और जो कि सार्वजनिक मामलों के बारे में हर समय उसे सूचित किया करते थे। उसे महामात्र (शिला-लेख ३ व ६) कहे जाने वाले मन्त्रियों की एक परिषद् से भी

सहायता मिलती थी जिसमें मन्त्रियों की संख्या, कौटिल्य के अनुसार, प्रशासन की आवश्यकताओं पर निर्भर करती थी। किन्तु वह अपने काम के लिए अधिकतर स्वयं अपने पर ही निर्भर रहता था। हर जगह निगाह रखने के लिए उसने अपने राज्य के दौरे करना आरम्भ किया—अपने पूर्वजों की तरह आमोद-प्रमोद के लिए दौरे नहीं बल्कि "देश और जनता के निरीक्षण के लिए।" (जनपदस्य जनस्य दर्शनम्,) शिला-लेख ८)। किन्तु उसका राज्य इतना विस्तृत था "कि वह उसके उन मुख्य भागों में भी नहीं पहुँच सकता था जहाँ उसकी घोषणाएँ अंकित थीं और इसलिए उसने इस बात को मान लिया है कि उन घोषणाओं को लिखने में कुछ त्रुटियाँ अवश्य होंगी और उन त्रुटियों के लिए क्षमा माँगी है, जबकि वे लेख प्रायः सर्वथा दोषमुक्त हैं (शिला-लेख १४)। सूचनाएँ प्राप्त करने और दौरे करने के अलावा सम्राट् का कार्य घोषणाएँ जारी करना था जिनमें मुख्यतः ये विषय होते थे : (१) शासन की नीति (शिला-लेख १३, कलिंग-लेख १ तथा २ और शिला-लेख ४); (२) जीवन की सुरक्षा के लिए जारी किये हुए विशेष नियम (शिला-लेख १, स्तम्भ-लेख ५); और मृत्यु-दण्ड पाये हुए कैदियों को तीन दिन की छुट्टी (स्तम्भ-लेख ४); (३) राज्यपालों के अधिकार और आभार तथा उन्हें दिये गए आदेश (स्तम्भ-लेख ४, कलिंग-लेख २); अपने समस्त पदाधिकारियों को समय-समय बाद दौरों के लिए आदेश; (५) नैतिकता-सम्बन्धी एक नये विभाग की स्थापना और उसके कर्मचारियों के कर्तव्य (शिला-लेख ५); (६) सम्राट् के स्वयं अपने कर्तव्य और उदाहरण (अप्रमुख शिला-लेख २, शिला-लेख १, शिला-लेख ६, शिला-लेख ८, स्तम्भ-लेख २); (७) प्रजा के लिए निर्दिष्ट नैतिक आदर्श (अप्रमुख शिला-लेख २, शिला-लेख ४, ७, ६, १०, ११, १२, स्तम्भ-लेख १, ३, ६,); (८) सार्वजनिक रूप से उपयोगी कार्य तथा अन्य नये प्रचलन (शिला-लेख २, स्तम्भ-लेख ७) प्रत्यक्षतः ये सब कार्य सम्राट् के व्यक्तिगत प्रशासन के क्षेत्र के अन्तर्गत ही थे।

सम्राट् के बाद बड़े प्रान्तों के राज्यपालों का पद ही सबसे ऊँचा था। सामान्यतः ये राज्यपाल राजकुमार ही होते थे जिन्हें घोषणाओं में तक्षशिला, उज्जैन, तोशाली और सुवर्णगिरि के राज्यपालों का उल्लेख करते हुए कुमार और आर्यपुत्र कहा गया है। परम्परानुसार अशोक को राजकुमार के रूप में तक्षशिला का राज्यपाल बताया गया है। कहा जाता है कि उसने स्वयं राजकुमार कुणाल को वहाँ का राज्यपाल नियुक्त किया था। फाहियान के अनुसार (लेगे का अनुवाद, पृष्ठ ३१) उसने अपने पुत्र राजकुमार धर्म-विपर्यन को गंधार का राज्यपाल नियुक्त किया था। राजा की तरह राज्यपाल के भी अपने अलग मन्त्री होते थे। (देखिए अप्रमुख शिला-लेख १ तथा कलिंग शिला-लेख)।

छोटे प्रान्तों का शासन राष्ट्रीय (रुद्रदामन नामक उपर्युक्त लेख में उल्लिखित) और राजूक नामक पदाधिकारियों द्वारा किया जाता था। चन्द्रगुप्त के शासन-काल में पश्चिमी प्रान्त का अधिकारी पुष्यगुप्त नामक वैश्य था और अशोक के शासन-काल में यवन राजा तुषास्फ। राजूकों के लिए कहा जाता है कि वे "लाखों प्राणियों के ऊपर नियुक्त थे।" (शिला-लेख ३, स्तम्भ-लेख ४)। सर्वप्रथम राजूकों की नियुक्ति अशोक ने नहीं की थी, किन्तु पुरस्कार और दण्ड देने के लिए उन्हें अधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये थे। कार्यपालक, राजस्व और न्यायिक विभागों के प्रादेशिक नामक अन्य प्रान्तीय पदाधिकारी होते थे (जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१४, पृष्ठ ३८३-६) जब कि राजूक, जैसा कि उनके नाम से ही पता चलता है, (रज्जुग्राहक अर्थात् ज़मीन की पैमाइश करने वाले) "ज़मीन की जाँच-पड़ताल और सिंचाई आदि" के कार्यों का प्रबन्ध करते थे (कैम्ब्रिज हिस्ट्री, पृष्ठ ४०७,५०८)। इसीके बराबर पद के अन्य अधिकारी भी होते थे, जिन्हें पुरुष कहा जाता था और जो कि "जन-समूह के ऊपर नियुक्त होते थे" (स्तम्भ-लेख ७) और जिनका काम राजूकों को राजा की सच्ची सेवा के लिए

प्रेरित करना था (स्तम्भ-लेख ४)। बुहलर के अनुसार वे प्रतिवेदकों के समान ही थे, जिनका काम शासन का निरीक्षण करना था।

राजकीय विभागों के प्रधानों को कई बार 'मुख' कहा गया है (स्तम्भ-लेख ७) उन्हें 'महामात्र' भी कहा गया है। जिस विभाग का महामात्र को अधिकार दिया जाता था उस विभाग के नाम को महामात्र के नाम के आगे जोड़ दिया जाता था जैसे कि धर्म-महामात्र, धर्म-विभाग; स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र जो स्त्रियों पर निगरानी रखने वाले विभाग का प्रधान होता था और अन्त-महामात्र, सीमान्तों के विभाग के प्रधान होते थे (स्तम्भ-लेख १)। वे महामात्र जो कि नगरपालक होते थे उन्हें नगर-व्यावहारिक[1] कलिंग-लेख कहा जाता था; जैसे कि तोशाली (जो कि एक राज्यपाल के अधीन था), इसिला और समापा के नगर-

१. दो कलिंग-घोषणाओं में से एक में उन 'महामात्रों' को सम्बोधित किया गया है जो 'नगर व्यावहारिक' थे और दूसरी जिस रूप में जौगड़ में अंकित है, उसमें जिन महामात्रों को सम्बोधित किया गया है उन्हें 'लजवचनिक' कहा गया है, अर्थात् वे, जिनके पास राजा अपने सन्देश सीधे भेज सकता था। बाद वाली कोटि के महामात्र प्रान्तों के राष्ट्रियों (गवर्नर) की तरह के थे और उनके तथा राजा के बीच कोई राजा के अभिकर्ता के रूप में कोई कुमार अथवा आर्यपुत्र (वाइसराय) नहीं होता था। इस प्रकार समापा किसी राजकुमार के अधीन नहीं था लेकिन तोसली था। दूसरी कलिंग-घोषणा जिस रूप में धौली में अंकित है उसमें कुमार को भी सम्बोधित किया गया है और महा-मात्रों को भी, जो कदाचित् वाइसराय के मन्त्री थे। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि तोसली अर्थात् धौली में वाइसराय (कुमार अथवा आर्यपुत्र) रहता था और समापा अर्थात् जौगड़ में राष्ट्रीय (गवर्नर)। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि हाथिगुम्फा की गुफा में कलिंग के राजा खारवेल के अभिलेख से पता चलता है कि उसके शासन-काल में तोसली कलिंग की राजधानी थी।

पालक। दूतों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे धर्म-महामात्रों की श्रेणी के ही पदाधिकारी थे (शिला-लेख १३)। साधारण नागरिक सेवकों को युक्त (शिला-लेख ३) व पुरुष कहा जाता था जिनसे उनके उच्च, निम्न अथवा मध्यम पदों का बोध होता होता था। (स्तम्भ-लेख १) लिपिकार के पद का भी उल्लेख किया गया है (अप्रमुख शिला-लेख २, ब्रह्मगिरि लेख)।

अशोक की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति थी धर्म की अपनी परिभाषा के अनुसार धर्म-प्रचार के लिए एक नया विभाग खोलना और इस सिद्धान्त को मानना कि जनता का नैतिक विकास राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है। अशोक की घोषणाओं से उसके मस्तिष्क में इसी विचार के क्रमशः विकास का पता लगता है। कलिंग शिला-लेख २ में उसने पहले यह विचार व्यक्त किया कि प्रशासन-व्यवस्था में कमी है जिसे दूर करने के लिए उसने अपने पदाधिकारियों को आदेश दिया कि यथाकरण बिना किसी भी व्यक्ति को न बन्दी बनाया जाय और न यन्त्रणा पहुँचाई जाय। और 'धर्म के अनुसार' समस्त अन्याय को रोकने के लिए उसने अपने इस संकल्प की घोषणा की कि वह "प्रत्येक पाँच वर्ष बाद क्रमानुसार ऐसे व्यक्तियों को भेजा करेगा जो कि मृदु और विनम्र स्वभाव के होने के कारण और जीवन को एक पुण्य वस्तु समझने के कारण उसके आदेशों का अच्छी तरह पालन कर सकेंगे।" एक ऐसी ही आज्ञा उज्जैन और तक्षशिला के राज्यपालों को भेजी गई थी जिसमें कहा गया था कि इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उन्हें प्रत्येक तृतीय वर्ष इसी प्रकार के पदाधिकारियों को बाहर भेजना चाहिए। सम्राट् के इस संकल्प ने क्रमशः एक स्थायी आदेश का रूप ले लिया जो कि शिला-लेख ३ में घोषित है और जिसके अनुसार "उनके साम्राज्य के प्रत्येक पदाधिकारी को—युक्त, राजूक और प्रादेशिकों को—हर पाँचवें वर्ष साधारण प्रशासनीय कार्यों के लिए और विशेषतः धर्म-प्रचार के लिए दौरे पर (अनुसंयान) जाने" का आदेश दिया गया। इसके बाद अगले वर्ष, धर्म-महामात्र नामक

पदाधिकारियों के एक विशेष वर्ग को जन्म देकर, जिसका कि काम जाति और धर्म का भेद किये बिना समस्त प्रजा को, वे ब्राह्मण, बौद्ध, जैन अथवा आजीविक कुछ भी हों (स्तम्भ-लेख ७), अथवा "सैनिक और सैनिकाधिकारी, धनी और दरिद्र, वृद्ध और अशक्त" अथवा राजधानी व प्रान्तीय नगरों के राज्य-परिवार के स्त्री-पुरुष-सदस्यों के भी "नैतिक और आत्मिक हित का ध्यान रखने का काम सौंपकर अशोक ने इन धार्मिक दौरों की अपनी योजना को और आगे बढ़ाया। (शिला-लेख ५)।

महामात्रों का प्रथम कर्त्तव्य अनुचित "परिबाध, बन्धन और वध" को रोकना था। उनका सामान्य कार्य धर्म का प्रचार और उसकी स्थापना (धर्माधिष्ठान) तथा राजा तथा रानियों की (दानविषय, स्तम्भ-लेख ७) और राजकुमारों की भी (उपरोक्त) दान-व्यवस्था (स्तम्भ-लेख ७ में उल्लिखित आनुग्रहिक) को नियमित बनाना था; क्योंकि धर्म का दान से सम्बन्ध था। स्त्रियों की नैतिकता पर ध्यान रखने का नाजुक काम भी उन्हींका था और इस रूप में वे स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र कहलाते थे (शिला-लेख १२)। शिला-लेख २ और शिला-लेख १३ को एक साथ पढ़ने से मालूम होता है कि चिकित्सालयों और औषधियों का प्रबन्ध, यात्रियों के लिए जल और विश्राम-गृहों आदि की व्यवस्था-जैसे सार्वजनिक उपयोगिता के विभिन्न कार्य भी इन महामात्रों को सौंपे गए थे। अन्ततः विदेशों में भेजे जाने वाले उन मण्डलों के संगठन का काम भी उन्हींका था जो कि अशोक के प्रशासन की लाक्षणिक विशिष्टता है। ये मण्डल "अशोक के साम्राज्य तथा उसके साम्राज्य के अग्र भागों (प्रत्यन्तेसु) में भी काम करते थे" (शिला-लेख २)। इन अग्रभागों में उत्तर-पश्चिम में यवन, काम्बोज तथा गन्धार; मध्य में राष्ट्रिक, पितिनिक (शिला-लेख ५), देश के अन्तराल में नामपन्ति, भोज, आन्ध्र और पुलिन्द; तथा दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र और केरल-पुत्र (शिला-लेख २, ५, और १३) का उल्लेख मिलता है। इन अग्रभागों से आगे विदेशों में भी दूत भेजे जाते थे, जैसे कि टॉलेमी

और फिलाडैल्फॉस के शासन-काल में मिस्र में (२८५-४७ ई० पू०), एंटिगोनोस गोय्टास के शासन-काल में मेसिडोनिया में (२२७-३९ ई० पू०), मगस के शासन-काल में साइरीन में (२८५-५८ ई० पू०), सिकन्दर नामक एक राजा के शासन-काल में इपीरस में (२७२-१२५८ ई० पू०), और एंटियोकोस थियोस के शासन-काल में सीरिया में (२६१-४६ ई० पू०), जिन सबका उल्लेख शिला-लेख १३ और शिला-लेख २ में मिलता है।

अशोक के इन विदेशी मण्डलों के विषय में 'महावंश' नामक साहित्यिक प्रभव से कुछ विश्वसनीय सूचना मिलती है जिसमें कहा गया है कि अशोक का राज्य-तिलक होने के उन्नीस वर्ष बाद पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध परिषद् का अधिवेशन हुआ था और जिसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत तिस्स ने (जिसे उत्तरी लेखों में उपगुप्त कहा गया है) धर्म-प्रचार के लिए "थेरों को इधर-उधर भेजा था;" इन थेरों के नाम तथा जिन देशों में वे भेजे गए थे उनके नाम भी उसमें दिये गए हैं। (उपरोक्त xii १-८) मज्झन्तिक को काश्मीर और गन्धार (शिला-लेख ५ देखिए); महारक्षित को यवन देश (शिला-लेख ५ और १२ में उल्लिखित; सम्भवतः यह इसी समय लगभग २४६ ई० पू० में स्थापित बैक्ट्रिया नामक यूनानी राज्य था); मज्झिम को हिमालय; धर्मरक्षित नामक एक यवन बौद्ध को अपरान्तक; महाधर्मरक्षित को महाराष्ट्र देखिए, शिला-लेखों में उल्लिखित राष्ट्रिक); महादेव को महिषमण्डल (घोषणाओं में उल्लिखत सतियपुत्र देश ?); रक्षित को वनवासी (उत्तरी कनाडा); सोण और उत्तर को सुवर्ण-भूमि (पेगु और मोलमीन); और महेन्द्र को रिष्ट्रिय, उत्तरी सम्बल और भद्रसार के साथ लंका भेजा गया था। महावंश नामक कथा में दी हुई इस सूचना की विश्वसनीयता इस बात से प्रमाणित होती है कि उपयुक्त भिक्षुओं में से कुछ का नाम उत्तरी लेखों में भी पाया जाता है। साँची के स्तूप में पाये गए एक भग्न कलश के भीतरी ढक्कन पर 'मज्झिम' नाम अंकित है और बाहरी ढक्कन

पर 'कासपगोत', जो कि दीपवंश और महाबोधिवंश के अनुसार मज्झिम द्वारा हिमालय प्रदेश में किये जाने वाले काम में उसका साथी था। सोनारी के स्तूप में पाई गई एक अन्य मंजूषा पर यही दोनों नाम हिमकताचार्य की पदवी के साथ लिखे मिलते हैं। यहीं पाई गई एक अन्य मंजूषा पर मोग्गलिपुत्त का नाम भी मिलता है जो कि सम्भवतः देश-विदेशों में भेजे जाने वाले मण्डलों का संगठन करने वाली बौद्ध परिषद् का अध्यक्ष था।

अशोक के इन वैदेशिक मण्डलों के विषय में स्मरणीय बात यह है कि वे अन्य देशों की जनता में लोक-हित के कार्य करते थे (जैसे कि मनुष्य व पशुओं के लिए औषधि और चिकित्सा आदि का प्रबन्ध, जिसका उल्लेख शिला-लेख २ में किया गया है) जिसके लिए भारतीय सम्राट् बड़ी उदारता के साथ मुक्तहस्त होकर पूँजी देता था।

किन्तु वह धर्म क्या था, जिसका अपने और पराए देशों में प्रचार करने के लिए अशोक ने इतने कष्ट उठाए थे? वह जीवन और विचारों से सम्बन्धित कुछ ऐसे मौलिक सिद्धान्तों से बना था कि जिसे सारी मानवता पर प्रयुक्त किया जा सकता था और जो कि सारी मानवता द्वारा निर्विवाद रूप से ग्राह्य था। एक घोषणा में (शिला-लेख ७), उस धर्म के निम्नलिखित सिद्धान्त बनाये गए हैं—संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्तिता; तथा एक अन्य लेख में (स्तम्भ-लेख २), "पुण्य, सत्कर्म, दया, दान, सत्य, शौच।" एक तीसरी घोषणा में (p. e. vii) "दया, दान, सत्य, शौच के साथ मोद और साधुता" का भी उल्लेख है। किन्तु धर्म केवल सिद्धान्तों के रूप में ही नहीं बल्कि मूर्त्त रूप में प्रस्तुत किया जाता था, क्योंकि वह केवल आस्था की वस्तु न होकर जनता द्वारा जीवन में अपनाई जाने वाली वस्तु थी अतः उसका जनता के नैतिक स्तर के अनुरूप होना आवश्यक था। इस प्रकार धर्म शुद्ध गार्हस्थ्य-जीवन पर, "पिता और माता, सम्बन्धी, नौकर और दास, बन्धु-बान्धव और समर्थक, आयु में अपने से बड़े व्यक्ति तथा गुरु" के

साथ उचित सम्बन्ध रखने पर आधारित था। शुश्रूषा, समर्थन (सम्प्रतिपत्ति) अथवा श्रद्धा (अपचिति) में इन सम्बन्धों का विभाजन मिलता है (शिला-लेख ३, ४ और ६)। "घर में जगा हुआ प्रेम ही मानव-जाति में व्याप्त हो जाता है।" अतः अशोक की योजना का दूसरा कदम था गार्हस्थ्य-प्रेम के क्षेत्र को इतना व्यापक बनाना कि जिसमें ब्राह्मण, साधु और भिक्षु सभी समा सकें, जिनके प्रति सभी गृहस्थों को श्रद्धा और उदारता दिखानी आवश्यक थी और यही बात मनुष्य पर आश्रित पशुओं के लिए भी लागू होती थी।

इन आचरणों के आधार पर एक नई नैतिकता का उदय हुआ जो कि आदर्शों के क्षेत्र में अशोक की अपनी देन है। विभिन्न धर्मानुयायियों के देश में सहिष्णुता को धर्म का एक अति आवश्यक गुण बताने वाली एक घोषणा जारी की गई। कहा गया कि "जो अपनी जाति व धर्म का आदर करते हुए उसके वैभव की वृद्धि के लिए दूसरों के धर्म की निन्दा करता है वह वास्तव में स्वयं अपने धर्म पर ही कुठाराघात करता है;" क्योंकि ऐसे व्यक्ति में धर्म के मूल तत्त्व का अभाव है, उस आदर का अभाव है जो कि "सब धर्मों के मूल में निहित है।" फलतः 'वाक्-संयम' का आदेश दिया गया, क्योंकि "सभी धर्म किसी-न-किसी कारण श्रद्धा के पात्र हैं।" अतः सम्राट् अशोक "मूल तत्त्व के विकास और सब धर्मों के प्रति आदर" की ओर विशेष रूप से ध्यान देते थे न कि केवल अपने धर्म की वृद्धि की ओर। वह अपनी प्रजा के लिए अपने सिद्धान्तों के स्वयं सबसे अच्छे उदाहरण थे। उन्होंने अपनी एक घोषणा में कहा था कि "सम्राट् अपने विभिन्न उपहारों व श्रद्धाञ्जलियों द्वारा समस्त सम्प्रदायों के लोगों का आदर करता है।" सब जातियों व धर्मों के लोगों के लिए अशोक की श्रद्धा का उदाहरण आजीविकों को दिये हुए गुहावासों; बुद्ध कोणागमन के स्तूप को दो बार बढ़वाने; बौद्धों के बराबर ही ब्राह्मणों, आजीविकों, निरग्रन्थों व अन्य सम्प्रदायों के हितों की वृद्धि के लिए धर्म-महामात्र नामक विशेष पदाधिकारियों की नियुक्ति (स्तम्भ-

लेख ७) तथा ब्राह्मणों व श्रमणों के प्रति समान उदारता दिखाने (शिला-लेख ३, ६) और उनके प्रति किसी भी प्रकार का अनुचित व्यवहार न करने (शिला-लेख ४, स्तम्भ-लेख ७) के बारम्बार आग्रह-पूर्वक दिये गए आदेशों में मिलता है। वह स्वयं अपनी यात्राओं में भी "ब्राह्मणों और भिक्षुओं से उदारता के साथ मिलते थे" (शिला-लेख ८) और उन्होंने एक विशेष आज्ञा द्वारा विभिन्न जातियों के आवास-सम्बन्धी अधिकारों के पुराने भेद-भाव को मिटा दिया। उन्होंने घोषणा की (शिला-लेख ७) कि "सब स्थानों में सब जाति के लोग रह सकते हैं।" इस प्रकार अशोक की इन घोषणाओं द्वारा विभिन्न धर्मों के देश भारत ने सार्वजनीन धर्म और धार्मिक सहिष्णुता का एक ऐसा सन्देश प्रस्तुत किया, जिसके प्रति पश्चिम को जागरूक होने में कई सदियाँ लग गईं। सहिष्णुता के सन्देश के बाद उसके *सच्चे कर्मकाण्ड* का सन्देश उल्लेखनीय है, जो कि विशेषतः भारतीय परिस्थितियों पर लागू होता था। जिस देश के लोगों का धर्म कर्मकाण्डों से अधिक सम्बन्धित हो और जहाँ कि "रोग, पुत्र-पुत्रियों के विवाह, बालकों के जन्म, यात्रा के लिए प्रस्थान आदि से सम्बन्धित धार्मिक क्रियाएँ" ही नैतिक जीवन की मापदण्ड हों वहाँ स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले "इन तुच्छ और निरर्थक कर्मकाण्डों" की निन्दा करके यह बता देना अशोक को अपने समय से बहुत आगे बढ़ा देता है कि "नौकर-चाकरों के साथ उचित व्यवहार, गुरुजनों की श्रद्धा, जीवधारी प्राणियों के प्रति सज्जनता तथा साधुओं और ब्राह्मणों के प्रति उदारता" (शिलालेख ६) और जीवन के समस्त सम्बन्धों में उचित आचरण ही सच्चा कर्मकाण्ड है। धर्म का सार कर्मकाण्ड में नहीं, चरित्र में है। इसी सिद्धान्त पर, एक अन्य घोषणा में (शिला-लेख ११) उसने *सच्चे उपहार* की व्याख्या की है। सच्चा उपहार वस्तुओं का नहीं, सत्य का होता है; धर्म को अंगीकार करना और अपने घरेलू व सामाजिक जीवन में उसीके अनुसार रहना सच्चा उपहार है। एक अन्य घोषणा में (शिला-लेख ४) उसने नैतिक

नियमों के अंगीकार किये जाने को सर्वोच्च कृत्य कहा है; क्योंकि मनुष्य को नैतिक बनाने के लिए यही सर्वप्रथम आवश्यकता है। उसने बड़े और छोटे" (अप्रमुख शिला-लेख १) सबके लिए आत्मोद्योग को नैतिक जीवन की सर्वोच्च आवश्यकता बताया है। "अन्य सब ध्येयों को त्यागकर किया हुआ अधिकतम आत्मोद्योग" विशेषतः "उच्च कोटि के" व्यक्ति के लिए और भी अधिक आवश्यक है। "आत्म-परीक्षण" अपने कुकर्मों व सुकृत्यों का परीक्षण (स्तम्भ-लेख ३) तथा धर्म का "मनन", (स्तम्भ-लेख ७) जो कि धर्म के औपचारिक नियमों से कहीं अधिक धर्म की ओर आकृष्ट करता है, इस आत्मोद्योग की विधि है। इस प्रकार आत्म-परीक्षण और आत्मोद्योग को नैतिक जीवन के संबल के रूप में प्रस्तुत किया गया था (स्तम्भ-लेख १)।

अतः यह स्पष्ट है कि अशोक की घोषणाओं द्वारा प्रसारित व प्रचारित धर्म में एक विश्वजनीन अनुकूलता व आकर्षण था, जो कि बहुत-कुछ एक ऐसे नीति-शास्त्र व नैतिक नियमों की एक व्यवस्था के सदृश थी जिसे किसी एक विशेष धर्म व जाति की सम्पदा न कहकर समस्त मानव-जाति की सम्पदा कहना अधिक उचित होगा। फलतः अशोक के लिए केवल अपनी प्रजा में ही नहीं बल्कि जाति वर्ण का भेदभाव किये बिना पश्चिम के उन विजातीय देशों में भी अपने धर्म का प्रचार करना असंगत न था जिन्हें वह भारतीय विचार व जीवन के समकक्ष लाना चाहता था, क्योंकि उस युग में भारत व पश्चिम के बीच कई प्रकार का निकट सम्बन्ध पहले से ही था। न यह समझा जाना चाहिए कि अशोक का सन्देश, जो कि शान्ति, सद्भावना और अहिंसा का सन्देश था, विदेशीय जनता को, उनकी अपनी भिन्न संस्कृति और धर्म के होते हुए भी, किसी भी प्रकार अप्रिय था। और इन विदेशों में जाने वाले इन मण्डलों द्वारा ही भारतीय बौद्ध विचार-धारा ने पश्चिमी विचार-धारा को प्रभावित किया है जिसका परिचय ईसाई धर्म की कई शाखाओं में मिलता है (विन्सैण्ट स्मिथ-कृत 'अर्ली

हिस्ट्री' तृतीय संस्करण, पृष्ठ १८८)। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि धर्म और नैतिकता की ऐसी सार्वजनीन योजना बनाने वाले अशोक द्वारा उस तटस्थता का परित्याग न्यायोचित ही था जो कि विभिन्न धर्मों व जातियों पर शासन करने वाले एक सम्राट् की साधारणतः धार्मिक नीति होनी चाहिए थी। ऐसी ही योजना द्वारा वह अपनी प्रजा के उन नैतिक और आध्यात्मिक हितों के प्रति अपनी सकारात्मक और सक्रिय आस्था प्रदर्शित कर सकता था जिनके विकास के लिए उसने अपने साम्राज्य के समूचे साधन लगा दिए थे। एक विशेष घोषणा में उसने कहा था कि किसी भी सम्राट् का सच्चा वैभव व उसकी ख्याति उसके राज्य के पार्थिव विस्तार पर नहीं बल्कि उसकी सहायता से उसकी प्रजा द्वारा प्राप्त की हुई नैतिक प्रगति पर निर्भर करती है (शिला-लेख १०)।

अशोक ने धर्म और नैतिकता के क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीति के क्षेत्र में भी कुछ बड़े ऊँचे आदर्श पेश किये थे। उसने अपनी उच्च नैतिकता और लगन के कारण राजनीति को भी एक नैतिक आध्यात्मिक जामा पहन दिया था। एक युद्ध की भयंकरता ने ही उसके मन में यह दृढ़ विश्वास जमा दिया था कि युद्ध एक पाप है, ऐसा अपकृत्य है जिसका सामाजिक व्यापार में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उसने अपने इस विश्वास को यह घोषित करके सक्रिय रूप दिया कि "सत् की न कि बल की विजय ही मुख्यतम विजय है।" (शिला-लेख १३)। एक समूचे साम्राज्य ने अपने पड़ोसी राज्यों से पूछे-ताछे बिना ही केवल अपने बल और अपनी प्रेरणा पर शान्ति को सम्पूर्ण सत् समझकर अंगीकार किया था। युद्ध के नगाड़े बन्द हो चुके थे; भेरी-घोष का स्थान धर्म-घोष ने ले लिया था (शिला-लेख ४)। मौर्यों का आक्रमण-कारी रथ जो कि चन्द्रगुप्त के शासन-काल में भारत के अधिकांश स्वतन्त्र राज्यों को परास्त कर चुका था, अब शान्त खड़ा था। "अब इससे आगे नहीं" अशोक का आदेश था। कई छोटे राज्यों अथवा भारत के

बचे हुए भागों की स्वतन्त्रता को न छुआ गया। स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व की एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुसार भारत छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों का एक सुखद परिवार बन चुका था। विस्तार और शक्ति में असमान राज्यों को पद और प्रभुत्व में समान समझा जाता था। उत्तर-पश्चिम सीमान्त के यवन, काम्बोज और गांधार मध्य भागों के नामपति, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द, राष्ट्रिक और पितिनिक तथा दक्षिण के पाण्ड्य, सतियपुत्र और केरलपुत्र—इन सभी छोटी-छोटी जातियों को सम्राट् अशोक स्वतन्त्रता में अपना समान मित्र समझते थे, जो कि एक भयंकर और बलात् विजय के पात्र न होकर नैतिक विजय (धर्म विजय) और आध्यात्मिक कल्याण के पात्र समझे जाते थे (शिला-लेख १३) बल द्वारा उन्हें अपने अधीन बनाने के लिए सेना भेजने की जगह "प्रसन्नता की विजय" प्राप्त करने और अपनी प्रजा की तरह ही उन्हें भी एक नैतिक जीवन प्रदान करने के लिए अशोक ने अपने दूत (शिला-लेख १३) भेजे। उसने अपने साम्राज्य के कई स्वाधीन सीमान्त प्रदेशों को भी यह आश्वासनपूर्ण सन्देश भेजा कि "सम्राट् यह चाहते हैं कि आप लोग उनसे न डरें बल्कि उन पर विश्वास रखकर उनसे सुख न कि दुःख प्राप्त करें!" अशिष्ट जनता को भी प्रेम के इस सन्देश के लिए अयोग्य न समझा गया : "वनवासियों पर भी सम्राट् की कृपा दृष्टि है" (शिला-लेख १३)। और इस प्रकार सारे देश में शिलाओं और स्तम्भों पर अंकित सुखद सन्देश—स्वतन्त्रता, शान्ति और सद्भावना के सन्देश—ज़ोर-शोर के साथ गूँज उठे। किन्तु स्वतन्त्रता के इस साम्राज्य में एक प्रतिबन्ध मौजूद था : स्वतन्त्रता नैतिकता का उल्लंघन नहीं कर सकती। बल के स्थान पर स्थापित न्याय का प्रभुत्व बना रहना चाहिए। "सीमान्त निवासियों के प्रेम और विश्वास को पाने की इच्छा रखते हुए" अशोक उनको "पुण्य के पथ पर अग्रसर" करने के लिए समान रूप से इच्छुक था (कलिंग लेख १)। वनवासियों को चेतावनी दी गई है कि वे "कुपथ छोड़ दें ताकि उनको दण्ड देने की जरूरत

न पड़े" (शिला-लेख १३)। अतः संसार के शान्तिदाताओं में अशोक का स्थान निश्चय ही प्रथम है। उसकी नैतिक विजय केवल अपने साम्राज्य तक ही सीमित न थी, बल्कि सम्राट् के स्वयं अपने कथनानुसार (शिला-लेख १३) पश्चिम के कई प्रमुख देश भी विजित हो चुके थे।

उसकी सौहार्दपूर्ण सहिष्णुता और विश्व-मैत्री के भाव से ओत-प्रोत उदारता विशेषतः प्रशंसनीय है, क्योंकि वह स्वयं एक विशेष धर्म का अनुयायी था। अशोक एक कट्टर बौद्ध था। उसमें एक नये धर्मावलम्बी-जैसी पूरी लगन और उत्साह था। अपने पूर्वजों की तरह ही आरम्भ में वह भी कई ऐसे आचरण करता आया था जिनकी बौद्ध-धर्म अनुमति नहीं देता। राजसी भोज के लिए प्रतिदिन हज़ारों की संख्या में पशुओं की हत्या की जाती थी (शिला-लेख १)। बौद्ध धर्म के पूर्ण अनुयायी होने से पूर्व वह राजाओं के समस्त आमोद-प्रमोदों में भी भाग लिया करता था (शिला-लेख ८)। कहा जाता है कि राज्य-सिंहासन के न्यायोक्त उत्तराधिकारी अपने बड़े भाई की हत्या करके ही वह सिंहासनारूढ़ हुआ था। और अपने राज्य-तिलक के आठ वर्ष बाद तक अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए वह साहसी कलिंगों का रक्त-पात भी कर सकता था (शिला-लेख १३)।

उसने स्वयं अपने मत-परिवर्तन की कहानी कही है। आरम्भ में वह केवल एक उपासक था और "ढाई वर्ष से अधिक समय तक" अपने नये धर्म में प्रगति करने के लिए उसने कोई भी उद्यम नहीं किया। और इसके बाद वह कलिंग-युद्ध और उसके रक्त-पात तथा क्रूरताओं में संलग्न हो गया, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप ही बौद्ध-धर्म अर्थात् अहिंसा के धर्म में उसकी आस्था बढ़ी (अप्रमुख शिला-लेख १ और शिला-लेख १३)। और तब उसने बौद्ध-संघ में प्रवेश किया। (*संघम उपगत*, अ० शि० ले० १); पाब्बज्ज और उपसम्पदा के निर्धारित विधान को अंगीकार करके एक पूर्ण भिक्षु के रूप में नहीं बल्कि बहुत सम्भव है एक

भिक्षुगतिक[1] के रूप में, ('विनय' में उल्लिखित महावग्ग, iii ७, ८, 'सलेक्टेड बुद्धिस्ट एसेज़ में अनूदित) जो कि उस व्यक्ति को कहा जाता है "जो भिक्षुओं के साथ एक ही विहार में रहता है" किन्तु स्वयं भिक्षु नहीं होता। अशोक से सम्बन्धित अनेक कथाओं में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि उसने संसार को पूर्ण रूप से त्यागकर (प्रव्रज्या) और भिक्षु बनने के लिए आवश्यक कर्मकाण्डों को पूरा करके भिक्षु-जीवन अपनाया है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध-संघ ऐसे व्यक्तियों को अपनाना पसन्द नहीं करता था जिन पर राज्य-सेवा का भार हो अथवा जो मृत्यु-पर्यन्त विशुद्ध भिक्षु-जीवन व्यतीत न करके सांसारिक कार्यों के साथ भिक्षु बने रहना चाहते हों। अतः यद्यपि अशोक संघ का सबसे बड़ा उपकारक था किन्तु वह सम्राट् के रूप में बाहर से ही, न कि भिक्षु के रूप में अन्दर से, उपकारक बन पाया था।

अशोक द्वारा बौद्ध-धर्म अंगीकार करने का श्रेय उसके बड़े भाई

१. 'महावंश' में यह वर्णन मिलता है कि अशोक, जो उस समय तक संघ के प्रति अपनी अद्वितीय उदारता के कारण धर्माशोक कहा जाने लगा था, स्वयं तो संघ में शामिल न हुआ, पर उसने अपने पुत्र तथा पुत्री को संघ में शामिल हो जाने की अनुमति दे दी। इसके कारण संघ में उसका पद 'पच्चयदायक' से, अर्थात् भिक्षुओं की भोजन, वस्त्र, आश्रय तथा औषधि की चार आवश्यकताओं को पूरा करने वाले से, बढ़कर 'सासनदायाद' का हो गया, अर्थात् वह संघ का निकट सम्बन्धी हो गया; इस पद को प्राप्त करने की उसकी स्वयं बड़ी लालसा थी। इस सुस्पष्ट परम्परागत विवरण के होते हुए, जिसमें अशोक को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि वह जान-बूझकर स्वयं संघ में सम्मिलित नहीं हुआ, उसकी किसी घोषणा में इस बात को खोजना बे-तुकी बात है (गीगर का अनुवाद, पृ० ४२-४३)।

'भिक्षुगतिक' के सुझाव के लिए मैं अपने विभाग के अध्यापक श्री चरणदास चटर्जी एम० ए० का आभारी हूँ।

सुमन के पुत्र निरोध और आचार्य मोग्गलि को दिया जाता है, जिसे उत्तर में उपगुप्त कहा जाता था; किन्तु जैसा कि अशोक ने अपनी एक घोषणा में कहा है कलिंग-युद्ध के पाप के प्रायश्चित्त-स्वरूप ही उसने बौद्ध-धर्म अपनाया था।

अपने नये धर्म में उसकी प्रगति का बाहरी स्वरूप उसकी कई वैयक्तिक और सार्वजनिक कार्यवाहियों में मिलता है। उसने आज्ञा दी कि "राजसी भोज के लिए प्रतिदिन मारे जाने वाले हजारों जानवरों की जगह केवल तीन ही मारे जायँ, दो मोर और एक हरिन, और हरिन भी प्रतिदिन नहीं" (शिला-लेख १)। उसकी यह भी इच्छा थी कि "भविष्य में इन तीनों पशुओं की भी हत्या न की जाय।" इसके बाद विशेष पशुओं और पक्षियों की विभिन्न मात्राओं में सुरक्षा के लिए एक आज्ञा जारी की गई (स्तम्भ-लेख ५); किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन पशु-पक्षियों में मोर का नाम नहीं मिलता। बुद्धघोष ने 'सारत्थप्प कासिनी' में लिखा है कि मज्झिम देश में, जिसमें मगध भी शामिल था, मोर एक लोकप्रिय खाद्य-सामग्री समझी जाती थी। एक अन्य आज्ञा द्वारा, जो कि स्पष्टतः बौद्ध धर्म से प्रेरित थी, राजधानी में बलिदान के लिए समस्त पशुओं की हत्या निषिद्ध कर दी गई। यह आज्ञा प्रत्यक्षतः ब्राह्मणों की उस पूजा-विधि के विरुद्ध थी जिसका पशु-बलि एक आवश्यक अंग थी और यह अशोक की असहिष्णुता और कट्टरता का एक उदाहरण है जो उसके सुयश के लिए एक कलंक है। अशोक ने अपनी राजधानी में कई ऐसे लोकप्रिय उत्सव निषिद्ध कर रखे थे जिनमें पशुओं की लड़ाइयाँ, अत्यधिक मद्य-पान और मांस-भक्षण हुआ करता था (शिला-लेख १)। इन उत्सवों की जगह उसने आमोद-प्रमोद के नये साधन प्रस्तुत किये जो कि पूर्णतः निर्दोष और सुधारवादी थे जैसे कि "स्वर्ग जैसे सुन्दर रथों में बैठे हुए देवताओं और हाथियों के जुलूस, रोशनियों की सजावट और अन्य भव्य प्रदर्शन" (शिला-लेख ४)। अपने पूर्वजों द्वारा आयोजित खेल-तमाशों और सैनिक जुलूसों

की जगह, जिनसे प्रजा की अभिरुचि और चरित्र भ्रष्ट होता था, धार्मिक प्रदर्शनों द्वारा उसने जनता को शिक्षित बनाना चाहा। ऐसी ही घोर कट्टरता उसने अपने साथ भी बरती। उसने केवल आनन्द प्राप्त करने के लिए की जाने वाली यात्राएँ, शिकार और इसी प्रकार के वे सब आमोद-प्रमोद बन्द कर दिए, जो कि राजाओं को प्रिय होते हैं (शिला-लेख ८)। वह केवल "धार्मिक यात्राओं" पर ही जाता और "साधुओं व ब्राह्मणों के दर्शन करके उन्हें दान देता, वयोवृद्धों से मिलकर उन्हें स्वर्ण भेंट करता और अपनी प्रजा से मिलता तथा धार्मिक सम्मेलनों का आयोजन करता" (शिला-लेख ८)। इस प्रकार वह अपनी प्रजा के साथ वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करके उनके जीवन की उन्नति करने न कि अपने लिए भोग-विलास के अवसर प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता था। अपने पूर्वजों की विलासप्रिय यात्राओं की जगह उसने बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों की तीर्थ-यात्रा करना आरम्भ किया। इन यात्राओं का उल्लेख अशोक की घोषणाओं के एक अंश में (शिला-लेख ८) मिलता है। जिसमें कहा गया है कि "अपनी शुद्धि के दस वर्ष बाद वह बोध गया पहुँचे"[1] [विक्रमि (गिरनार लेख में 'अपाय') सम्बोधिम् जिसका अर्थ साधारणतः ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में उसकी प्रगति समझा जाता है]। फूचर के अनुसार सम्राट् का बोध-गया में आगमन और वहाँ के पवित्र वृक्ष का दर्शन साँची के पूर्वी द्वार पर एक शिल्प-कृति का विषय बनाया गया है। समिनदेई स्तम्भ पर अंकित लेख में, जो कि प्रत्यक्षतः स्थानीय लोगों की कृति है, कहा गया है कि अशोक ने "अपनी शुद्धि के बीस वर्ष बाद लुम्बिनी आकर, जहाँ कि भगवान् बुद्ध पैदा हुए थे, अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।" उस तीर्थ-यात्रा के पश्चात् सम्राट् ने उस ग्राम की प्रजा को धार्मिक कर से मुक्त करके भू-राजस्व को पहले के आठवें भाग पर निर्धारित किया। अगली यात्रा में

१. इस अर्थ के लिए हम कलकत्ता-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डी० आर० भंडारकर के आभारी हैं।

वह बुद्ध से सम्बन्धित स्थान में नहीं एक पूर्वगामी बुद्ध से सम्बन्धित स्थान में गये; अशोक ने जिस वर्ष लुम्बिनी की यात्रा की उसी वर्ष वह कोणागमन के स्तूप पर भी गया, जिसे उसने दो बार बढ़वाया।

किन्तु उसकी यात्रा का पूर्णतर वृत्तान्त साहित्य में और चीनी यात्री युआन च्वांग के अभिलेखों में मिलता है। बनारस के गंधी गुप्त के पुत्र और अपने गुरु मथुरावासी उपगुप्त के निर्देशन में एक "महान् सेना के साथ" सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्म के मुख्य तीर्थों की यात्रा के लिए निकल पड़े और इस यात्रा में वह लुम्बिनी उद्यान, जहाँ कि बुद्ध का जन्म हुआ था; कपिलवस्तु, जहाँ कि उन्होंने संसार का त्याग किया था; बोधगया, जहाँ कि वह बुद्ध बने; ऋषिपाटन (सारनाथ), जहाँ कि उन्होंने प्रथम प्रवचन किया; और श्रावस्ती गये, जहाँ कि भगवान् बुद्ध अधिकांशतः रहे थे और उपदेश दिये थे और जहाँ कि सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और आनन्द-जैसे अनेक प्रमुख्य शिष्यों के स्तूप हैं, और अन्त में वह कुशीनगर पहुँचे, जहाँ कि भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण प्राप्त किया। इस यात्रा के मार्ग के एक भाग पर, पाटलिपुत्र से नेपाल की तराई के राजपथ पर जगह-जगह स्तम्भ खड़े किये गए, जैसे कि बखीरा, लौरिया-अरराज (रधिया), लौरिया-नन्दनगढ़ (मथिया) और रामपुरवा के स्तम्भ।

बौद्ध-धर्म के प्रति अशोक की निष्ठा का प्रमाण उसकी अन्य कई कार्यवाहियों में मिलता है। उसने वह घोषणा भी जारी की जिसे भाब्रा अथवा द्वितीय बैराट शिला-लेख कहा जाता है और जिसमें प्रायः बौद्ध संघ के प्रधान के रूप में ही उसने भिक्षुणियों तथा नर-नारियों द्वारा उच्चारण और मनन के लिए धर्म-ग्रन्थ के कुछ अंश उद्धृत किये तथा स्वयं बौद्ध त्रिपिटिक का पालन करने की भी घोषणा की। सारनाथ, कौशाम्बी और साँची के अप्रमुख शिला-लेखों में भी वह धर्मरक्षक के रूप में प्रकट होता है और विमत प्रकट करने वालों के लिए दण्ड का विधान बनाता है। बुद्धघोष ने लिखा है कि अशोक ने स्वयं कई

विमतावलम्बियों को "सफेद वस्त्र धारण कराकर" बाहर निकाल दिया था। पाटलिपुत्र में प्रसिद्ध बौद्ध-गुरु मोग्गलिपुत तिस्स की अध्यक्षता में तृतीय बौद्ध परिषद् का श्रेय भी उसे ही है। यह सम्मेलन उस समय बुलाया गया था जब कि सामन्त और तिस्स नामक दो महान् गुरुओं की मृत्यु के बाद बौद्ध संघ में अराजकता फैल गई थी और आस्तिकों से नास्तिकों की संख्या अधिक बढ़ चुकी थी। उस सम्मेलन की बैठक नौ महीने तक चलती रही; जिसके अन्त में 'कथावन्धु' नामक भाष्य द्वारा अध्यक्ष ने विधान की व्याख्या करके उसे सदा के लिए निर्धारित कर दिया और उस समय के प्रचलित समस्त मतों का भी उल्लेख किया। अन्त में, मानव-जीवन की तुलना में, जिसके प्रति सम्राट् की सद्भावना का परिचय राज-तिलक के वार्षिकोत्सव पर बन्दियों की मुक्ति, मृत्यु-दण्ड पाये हुए बन्दियों को तीन दिन की छूट (शिला-लेख ५ और स्तम्भ-लेख ४) और अनुचित गिरफ्तारियों व मन्त्रणाओं को रोकने के लिए विशेषाधिकारियों की नियुक्ति में ही मिलता है, पशु-जीवन की पवित्रता का दिया हुआ आवश्यक महत्त्व सम्भवतः बौद्ध धर्म के अनुयायी होने के कारण ही था। और मनुष्य व पशुओं की सुविधा व उनके दुःख-हरण के लिए विभिन्न सार्वजनिक कार्यों की विस्तृत योजनाएँ प्रत्यक्षतः उसके व्यक्तिगत धर्म से ही प्रेरित हुई थीं।

अब हम देखेंगे कि अशोक के शासन-काल की किन घटनाओं और उसके किन कार्यों का कालवाचन किया जा सकता है। शिला-लेख १३ में अशोक ने अपने पाँच समकालीन यवन राजाओं का उल्लेख किया है; जिनके इतिहास से प्रतीत होता है कि २५८ ई० पू० तक वे सब जीवित थे और उसी वर्ष उनमें से एक का देहान्त हुआ था। यदि यह हिसाब ठीक मान लिया जाय कि अशोक तक उसके देहान्त का समाचार पहुँचने में एक वर्ष लगा तो हमारा यह मान लेना उचित ही होगा कि शिला-लेख तेरह २५७ ई० पू० में लिखा गया था। क्योंकि यह घोषणा अशोक के राज-तिलक के तेहरवें वर्ष में जारी की गई थी, अतः उसका राज्य-तिलक

२७० ई० पू० और सिंहासनारोहण २७४ ई० पू० में हुआ था।[1] और इस हिसाब से कलिंग-युद्ध २६२ ई० पू० में हुआ था जिसके बाद ही अशोक एक निष्ठावान बौद्ध अर्थात् 'भिक्खुगातिक' अथवा 'सासनदायाद' बन गया। लगभग एक वर्ष से अधिक तक पूर्ण लगन के साथ बौद्ध-धर्म का पालन करने के बाद उसने अप्रमुख शिला-लेख १ जारी किया, जिसकी तिथि लगभग २६० ई० पू० रही होगी। कलिंग-विजय से पूर्व वह पूर्ण बौद्ध न था, केवल एक उपासक था; और यह स्थिति "ढाई वर्ष तक रही" (अ० शि० ले० १), अतः लगभग २६५ ई० पू० में वह उपासक बना था। तदनुसार अशोक के शासन-काल की अभिलिखित घटनाओं से निम्नलिखित अनुक्रमणिका प्राप्त होती है :

२७४ ई० पू० २१ वर्ष (?) में सिंहासनारोहण।
२७० ई० पू० २५ वर्ष (?) में राज्य-तिलक।
२६५ ई० पू० उपासक के रूप में बौद्ध धर्म अपनाना।
२६५-२६२ ई० पू०—बौद्ध धर्म का उदासीनता के साथ पालन।
२६२ ई० पू०—कलिंग-युद्ध और बौद्ध धर्म के प्रति आस्था में वृद्धि। अशोक का भिक्षुगतिक बन जाना।
२६० ई० पू०—घोर लगन के साथ एक वर्ष तक बौद्ध धर्म का पालन करने के बाद अप्रमुख शिला-लेख १ का प्रकाशन; बोध गया की प्रथम तीर्थ-यात्रा और भाबरा-घोषणा।
२५९ ई० पू०—दोनों कलिंग-घोषणाओं का प्रकाशन।

१. पुराणों के हिसाब से भी यही तिथि निकलती है। पुराणों में बताया गया है कि चन्द्रगुप्त लगभग ३२३ ई० पू० में राजा बना और उसने २४ वर्ष तक शासन किया, अर्थात् २९९ ई० पू० तक, और बिन्दुसार का शासन-काल २५ वर्ष का अर्थात् २७४ ई० पू० तक, बताया जाता है।

२५८-५७ ई० पू०—एक साथ चौदह शिला-लेखों का प्रकाशन; आजीविकों के लिए गुहावासों का दान।

२५६ ई० पू०—कोणागमन के स्तूप में दूसरी बार वृद्धि।

२५३ ई० पू०—तृतीय बौद्ध परिषद् (?)

२५० ई० पू०—बौद्ध तीर्थों की यात्रा; बुद्ध कोणागमन के स्तूप की की यात्रा और वहाँ एक स्मारक-स्तम्भ की स्थापना।

२४३ ई० पू०—स्तम्भ-लेखों का प्रकाशन।

२४० ई० पू०—सम्राज्ञी असन्धिमित्रा की मृत्यु और तिष्यरक्षिता से विवाह (उपकथाओं के अनुसार)।

२३७ ई० पू०—अशोक का देहान्त।

इस तिथि-क्रम से प्रतीत होता है कि अशोक के शिला-लेखों में उल्लिखित विभिन्न कार्य (जैसे कि युद्ध-निषेध, सार्वजनिक कार्य, विदेश जाने वाले मण्डल) उन शिला-लेखों की तिथियों से पूर्व ही सम्पन्न हो चुके थे, अर्थात् २६०-५८ ई० पू० के बीच (यह दो वर्ष का समय उसके वैदेशिक मण्डलों को वह सफलता प्राप्त करने में लगा होगा, जिसका उल्लेख शिला-लेख २ और १३ में मिलता है) जब कि स्तम्भ-घोषणाओं में उल्लिखित कार्य (जैसे कि पशु-रक्षा) २४३ ई० पू० में भी चल रहे होंगे।

इन घोषणाओं में उस युग की सामाजिक अवस्था प्रतिबिम्बित होती है। गार्हस्थ्य-जीवन का धर्म "पिता और माता, गुरु, सम्बन्धी, नौकर-चाकर, साथी और मित्र, पोषक और बड़ों के साथ उचित सम्बन्ध बनाए रखना था, अर्थात् जब कि गार्हस्थ्य-जीवन एक बृहत् दृष्टिकोण से नैतिकता की पाठशाला थी, संन्यासी जीवन एक अति सामान्य और लोकप्रिय वस्तु प्रतीत होती थी। ब्राह्मणों, बौद्धों अथवा श्रमणों, जैनों अथवा निर्ग्रन्थों और आजीविकों के अतिरिक्त संन्यासियों के कई और भी ऐसे प्रतिनिधि सम्प्रदाय थे, जिनका अशोक की घोषणाओं में उल्लेख नहीं है। आजीविकों को सम्राट् ने चट्टानों को काटकर बनाये गए गुहा-

सारनाथ का अशोक स्तम्भ

जिसे पर्सी ब्राऊन की 'इण्डियन आर्किटेक्चर' की प्लेट ५, चित्र १ के आधार पर मूल रूप में रखा गया है। इसके अनुसार 'धर्म चक्र' को चार सिंहों के कन्धे पर रखा गया है। यह चक्र स्तम्भ से टूटकर गिर चुका है और इसके टुकड़े म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। यह चक्र इस भाव का प्रतीक है कि धर्म का स्थान (धर्मचक्र द्वारा प्रदर्शित) स्थूल भौतिक बल (सिंहों द्वारा प्रदर्शित) से ऊँचा है।

वास दान किए थे (सम्भवतः उनसे अपनी माता के सम्बन्ध के आदर-स्वरूप)। विभिन्न मतों के संन्यासी अपने-अपने सिद्धान्तों को लेकर आपस में वाद-विवाद किया करते थे, और एक विशेष घोषणा द्वारा उनसे सहिष्णुता बरतने, प्रत्येक सिद्धान्त के सत्य का आदर करने और वाद-विवाद में वाक्-संयम रखने का आग्रह किया था (शिला-लेख १२)। सब गृहस्थों का कर्त्तव्य, साधुओं, ब्राह्मणों अथवा श्रमणों का आदर करना बताकर इन घोषणाओं ने उस समय के प्रचलित सामाजिक मत को मुखरित किया। बौद्ध -भिक्षु सामाजिक सेवा में अग्रणी थे। अशोक के समय में विदेश जाने वाले मण्डलों का भार उन्हीं पर था। वे लोग हिमालय प्रदेश, सुवर्णभूमि, लंका और यहाँ तक की "योन देश में "(महावंश) भी काम कर रहे थे, जो कि सम्भवतः सीरिया, मिस्र, साइरीन, मेसीडोनिया और इपिरस नामक यवन देश थे, जिनका उल्लेख अशोक की घोषणा में हुआ था। इन सुदूर देशों में काम करने वाले हिन्दू प्रचारकों ने विदेश-भ्रमण और समुद्र-यात्रा की समस्या हल कर ली थी। सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण की विशालता का एक उल्लेखनीय प्रमाण एक यूनानी (योन) के हिन्दू बन जाने में और अपरान्तक प्रदेश के धर्माध्यक्ष के रूप में उसकी नियुक्ति में मिलता है (महावंश)। इसी प्रकार हैलिडोरस नामक एक हिन्दू यूनानी ने, जिसने अपना नाम भागवत् रखा था, भगवान् वासुदेव के सम्मान में १४० ई० पू० में एक स्तम्भ बनवाया था। भारत के उच्चतम विचार प्राकृतिक अथवा कृत्रिम समस्त बन्धनों को पार करके विश्व में व्याप्त हो चुके थे। इस प्रकार अन्य देशों में इन विचारों ने फैलकर एक बृहत् भारत का निर्माण कर उसे बल और गौरव प्रदान किया। "भारत के विस्तार" का यह प्रादुर्भाव अशोक के समय में दृष्टिगोचर होता है। अन्त में, हमें उस समय में देश की साक्षरता के परिमाण की ओर भी ध्यान देना चाहिए, जब कि जनता अपनी भाषाओं व लिपियों में लिखी घोषणाएँ पढ़ पाती थी। विनसेन्ट स्मिथ के अनुसार अशोककालीन भारत में ब्रिटिश भारत से

कहीं अधिक साक्षरता थी (अशोक, तृतीय संस्करण, पृ० १३६)।

अन्त में, अब हम अशोक के व्यक्तिगत जीवन और परिवार के विषय में कुछ बातें कहेंगे। अशोक ने अपनी घोषणाओं में अपना नाम न देकर केवल अपनी उपाधि दी थी, जैसे कि 'देवानमपिय' और 'पियदसि'। देवानमपिय नामक उपाधि उसके पूर्वजों (शिला-लेख ८ देखिये) और उसके पौत्र दशरथ ने भी अपनाई थी। उसके समकालीन, लंका के राजा तिस्स ने भी इसी उपाधि को अपनाया था। पियदंसन के रूप में पियदसि की उपाधि 'मुद्राराक्षस' में (अंक ६) अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त को दी गई है। अतः जब तक कि मस्की घोषणा की खोज न हुई थी, जो कि अन्य घोषणाओं की तरह नाम-रहित न होकर स्पष्टतः देवानमपियस् अशोकस् नाम देती है, इन उपाधियों को अशोक के नाम के साथ सम्बन्धित करना कठिन था। कुछ भी हो, उसका व्यक्तिगत नाम भावी युगों को मालूम हो गया। रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में (लगभग १५० ई०) 'अशोकस्य मौर्यस्य' (E P. and खंड ८, पृ०४३) कहा गया है। कुमारदेवी [कन्नौज के राजा गोविन्दचद्र की रानी (सन् १११४-११५४) E. P. and खंड ६, पृ० ३२१] के सारनाथ लेख में 'धर्माशोकनराधिपस्य' (vi २५) शब्द आया है। उपकथाओं में अशोक को बौद्ध धर्म के प्रति उसकी आस्था और सेवाओं के कारण धर्मशोक कहा गया है, किन्तु बौद्ध धर्म के अपनाने के पूर्व अपने भाइयों की (६६ भाई) क्रूर हत्या और रक्त-पात द्वारा सिंहासनारूढ़ (महावंश) होने के कारण उसे चण्डाशोक भी कहा गया है। किन्तु उत्तरी उपकथाओं के अनुसार उसने केवल अपने बड़े भाई सुमन की ही हत्या की थी। यदि उसने अपने अन्य भाइयों की हत्या की थी, जैसा कि चण्डाशोक नाम से मालूम पड़ता है, तो वे उसके सौतेले भाई ही होंगे। उसकी घोषणाओं से उसके उन "भाई-बहनों और अन्य सम्बन्धियों" के अस्तित्व का पता लगता है जिसके हित का वह सदा ध्यान रखता था (शिला-लेख ५)। उसकी घोषणाओं में सम्मिलित

परिवार में यथोचित घरेलू सम्बन्ध कायम रखने पर बार-बार जोर दिया गया है जो कि उसके अपने भाइयों की हत्या करने वाली बात के विरुद्ध है। फाहियान ने अशोक के एक छोटे भाई का उल्लेख किया है जो कि एक पर्वत पर एक संन्यासी के रूप में रहता था। सम्राट् ने उसे "अपने परिवार में आकर रहने के लिए कहा ताकि उसकी सब आवश्यकताएँ पूरी हो सकें" पर जब उसने यह स्वीकार नहीं किया तो सम्राट् ने उसके लिए पाटलिपुत्र में एक पहाड़ी बनवा दी। यह अशोक के भ्रातृ-प्रेम का एक और उदाहरण है। अशोक के लेख व उससे सम्बन्धित उपकथाओं से उसके सम्बन्धियों के निम्नलिखित नामों का पता मिलता है—

पिता—बिन्दुसार।

माता—सुभद्रांगी, चम्पा के एक ब्राह्मण की पुत्री (उत्तरी परम्परा); धर्मा [दक्षिणी परम्परा (*महावंश टीका*), अध्याय ५, पृष्ठ १२५][1] जिसका परिवार आजीविक सम्प्रदाय का अनुयायी था (और सम्भवतः अशोक ने इसी कारण आजीविकों को गुहावास दान दिये थे)।

भाई—लंका की पुस्तकों में सबसे छोटे सहोदर भाई को तिष्य कहा गया है, और उत्तरी परम्परा के अनुसार विगताशा के तथा वीताशोक तथा कई उपकथाओं में उसे महेन्द्र नाम से भी सम्बोधित किया गया है। सबसे बड़े सौतेले भाई का नाम सुमन अथवा सुसीम था।

पत्नियाँ—(१) वेदिसागरि की देवी (लंका की पुस्तकों के अनुसार); (२) कारूवाकी (लेखों के अनुसार); (३) असंधिमित्रा; (४) पद्मावती (दिव्यावदान अध्याय २७) और (५) तिष्यरक्षिता (उपरोक्त); स्तम्भ घोषणा ७ में पत्नियों की दो श्रेणियों का उल्लेख किया गया है : पहली रानियाँ, जिनको देवी कहा जाता था और उनके पुत्रों को कुमार और आर्यपुत्र; और दूसरी प्रकार की पत्नियाँ उनके पुत्रों को दी गई

---

१. यह बात मेरे लिए श्री चरणदास चटर्जी ने ढूँढकर निकाली थी।

'दासक' की उपाधि से जानी जाती थीं।[1]

पुत्र—(१) देवी का पुत्र, महेन्द्र; (२) कारुवाकी का पुत्र, तीवर; (३) पद्मावती का पुत्र, कुणाल; (४) काश्मीर अनुक्रमणिका में उल्लिखित जलउक

पुत्रियाँ—देवी की पुत्री, संघमित्रा; और चारुमती, जो नेपाल में जा बसी थी।

दामाद—अग्नि-ब्रह्मा (संघमित्रा का पति) और चारुमती का पति, देवपाल क्षत्रिय।

पौत्र—संघमित्रा का पुत्र, सुमन; दशरथ; कुणाल का पुत्र सम्प्रति।

१. बूहलर (E. P. Ind. II पृष्ठ २७६) का विचार है कि देवी-कुमारकः पियदसि के पूर्वजों की पत्नियों के पुत्र हैं।

समुद्रगुप्त

(३३०-३७५ ई०)

जब कि अशोक शान्ति और अहिंसा का पुजारी था, समुद्रगुप्त इसके प्रतिकूल युद्ध और आक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिनिधि था। अशोक को युद्ध में पाई हुई विजय से घृणा थी, किन्तु समुद्रगुप्त को उसीकी लालसा थी। वह आरम्भ से ही समस्त देश को अपने अधीन करके चक्रवर्ती राजा बनने के प्राचीन क्षत्रिय आदर्श से प्रेरित था। क्षत्रिय राजाओं के इस दुराग्रही आदर्श के अनुवर्तन में समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की एक समुचित योजना बनाई और इस हद तक उसे कार्यान्वित किया कि उसे भारतीय नेपोलियन कहा जाना उचित ही है।

अशोक की तरह समुद्रगुप्त ने भी अपने कृत्यों का विवरण लिख छोड़ा था। युद्ध और हिंसा में उसकी अनेकों विजयों का विवरण उसी स्तम्भ पर अंकित है जिस पर कि अशोक की शान्ति और धर्मनिष्ठा-सम्बन्धी विजयों का वृत्तान्त अंकित है। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने दरबारी कवि हरिषेण द्वारा संस्कृत भाषा में, पद्य और गद्य दोनों में, अपना ऐसा गुण-गान करवाया जिसमें उसकी सामरिकता की समस्त विजयों और कीर्तियों का उल्लेख है।

उपर्युक्त लेख में समुद्रगुप्त को मृतक कहा गया है, अतः उसकी मृत्यु के बाद ही उसके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय ने यह लेख अंकित करवाया था। इस लेख में समुद्रगुप्त को बार-बार "एक लिच्छवि की पुत्री का पुत्र" कहा गया है। हमें यह भी पता चलता है कि उसके

पिता ने उसके अन्य भाइयों की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठतर योग्यता के कारण ही उसे सिंहासन के लिए चुना था। उसके कुछ गुणों का उल्लेख उपर्युक्त लेख में इस प्रकार किया गया है : "वह विभिन्न प्रकार के सैकड़ों युद्ध लड़ने में प्रवीण था, जिसका एक-मात्र सहायक उसकी अपनी भुजाओं का बल था; जिसका सुन्दर शरीर फरसा, बर्छी, बल्लम, तीर, तलवार, लौहबाण और अन्य अनेक शस्त्रास्त्रों के घावों से सुसज्जित था।" सैकड़ों युद्धों के उस सूरमा ने लगातार दो-तीन वर्ष तक उस युग की पार्थिव कठिनाइयों के बीच भारत के समस्त भागों में अपने विजयी अभियान द्वारा अपनी प्रभुसत्ता मनवा ली थी।

प्रथमतः उसने 'दक्षिणा पथ' के कई राजाओं को जैसे कि "कोशल के महेन्द्र (महानदी की घाटी में); महाकान्तारा के व्याघ्र राज (उस वन प्रदेश का राजा जो आज भी प्राचीन वनस्थली-जैसा ही है और जिसका क्षेत्र उड़ीसा की रियासतों व मध्य प्रदेश के अधिक पिछड़े हुए भागों में है); पिष्टपुर के महेन्द्र (आधुनिक पिथापुरम); कोट्टरा (गंजम जिला) के स्वामीदत्त; कोराल (कोल्लेरू झील[1]) के मंटराज; वेंगी के हस्तिवर्मन; कांची[2]

---

१. जोव्यू-दूब्रेइल ने अपनी 'ऐंशेंट हिस्ट्री आफ दि दकन' में (पृष्ठ ५८-६१) फ्लीट द्वारा किये गए इन अनुमानों का घोर विरोध किया है और इस बात पर जोर दिया है कि समुद्रगुप्त की विजयें केवल दकन के पूर्वी तट तक ही सीमित थीं और उसने न तो दकन के दक्षिण का कोई भाग जीता था, न पश्चिम का। इस आधार पर उसने शिला-लेख में उल्लिखित कौराल को कोराला राज्य बताया है।

२. पल्लवों के बारे में अपनी पुस्तक में (पृष्ठ १४, १५) जोव्यू दूब्रेइल ने यह सिद्ध किया है कि चूंकि पल्लवों का राज्य कृष्णा नदी तक फैला हुआ था इसलिए समुद्रगुप्त के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह उनके राजा विष्णुगोप से उसकी राजधानी काञ्ची में जाकर लड़ता। इन दोनों राजाओं की टक्कर कृष्णा नदी के तट पर या उससे कुछ उत्तर की ओर हुई होगी। इस प्रकार इस दृष्टिकोण के अनुसार समुद्रगुप्त की

के विष्णुगोप; पलक्करे[1] के उग्रसेन (नैलोर अथवा पालघाट जिला); इरण्डपल्ल (खान देश)[2] के दमन; अवमुक्त के नीलराज; देवराष्ट्र (महाराष्ट्र) के कुबेर[3]; कुस्थलपुर के धनंजय और अन्य राजाओं को अपने अधीन करके मुक्ति दिलाई ।"

तदुपरान्त उसने "आर्यावर्त और उत्तरा पथ के "रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपति-नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन, बलवर्मन आदि" अपने पड़ोसी राजाओं को 'समूल नष्ट' करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया । उपर्युक्त नामों में केवल गणपति-नाग को ही उस राजा के रूप में जाना जा सका है जिसकी राजधानी पद्मावती अथवा नरवार में थी, और यह नगर आज भी ग्वालियर राज्य में स्थित है ।

तृतीयत: उसने 'वन-देश' (फ्लीट के अनुसार मध्य भारत) के समस्त राजाओं को दासों (सचमुच अपने नौकरों, 'परिचारकों') के स्तर पर पहुँचा दिया ।

विजय का क्षेत्र बहुत कम हो जाता है ।

१. जोव्यू दूब्रेइल के मतानुसार अनेक पल्लव ताम्रलेखों में उल्लिखित कृष्णा नदी के दक्षिण की ओर एक राजधानी । (**जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी,** १९०५, पृष्ठ २९)

२. जोव्यू दूब्रेइल के मतानुसार गंजाम जिले में चिकाकोल के निकट स्थित एरण्डपलि नामक नगर, जिसका उल्लेख देवेंद्रवर्मन के सिद्धान्तम् लेखों में मिलता है । (Ep. Ind. खण्ड १३, पृष्ठ २१२)

३. जोव्यू दूब्रेइल के मतानुसार (**ऐंशेंट हिस्ट्री,** पृष्ठ ६०) वर्तमान विशाखापटनम् जिले में स्थित एक पुराना प्रान्त । विशाखापटनम् ज़िले में कासिमकोट नामक स्थान पर १९०८-९ में पाई गई ताम्र-पट्टिकाओं में इस बात का उल्लेख मिलता है कि पूर्वी चालुक्य राज्य के राजा भीम प्रथम ने एलमञ्च (आधुनिक यल्ल-मंचिलि) कलिंग देश में स्थित, जो देवराष्ट्र नामक प्रान्त का एक भाग था, एक गाँव दान में दिया था । (१९०८-९ की **मद्रास एपिग्राफ़ी रिपोर्ट,** संख्या ५९) ।

चतुर्थतः पूर्व और पश्चिम के सभी सीमान्त राज्यों को "कर देने, आज्ञा-पालन करने और श्रद्धांजलि अर्पित करने" के लिए बाध्य करके उसने उन्हें अपने अधीन कर लिया। पूर्व के ये राज्य निम्नलिखित थे : समतट (गंगा और ब्रह्मपुत्र का डेल्टा), कामरूप (आसाम), दवाक (बोगरा, दिनाजपुर और राजशाही के आधुनिक जिले), कर्तृपुरा (कुमाऊँ, अलमोड़ा, गढ़वाल, काँगड़ा), नैपाल और अन्य देश। पश्चिम के निम्नलिखित राज्य राजतन्त्र न थे, बल्कि जनतन्त्र थे : "मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, अमीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खरपरिक आदि।"

इन सब विजयों के फलस्वरूप "संसार में समुद्रगुप्त से टक्कर लेने वाला उसके समान शक्तिशाली कोई दूसरा न था।" समुद्रगुप्त ने "पृथ्वी के समस्त राजाओं को पराजित करके उनका प्रभुत्व हर लिया था।" (एराण शिला-लेख)

उसकी विस्तृत विजयों की अनिवार्यतः कई श्रेणियाँ थीं। उपर्युक्त शिला-लेख के अनुसार (१) कुछ ऐसे राजा थे जो मार डाले गए थे और जिनके राज्य समुद्रगुप्त के साम्राज्य में मिला लिये गए थे; (२) वे राजा जिन्हें परास्त करके उसने बन्दी बना लिया था और फिर उन्हें मुक्त करके अपने अधीन राजाओं के रूप में रखा था; (३) वे सीमान्त राज्य, राजतन्त्र और जनतन्त्र जिन्होंने समुद्रगुप्त की विजय को अवश्यम्भावी समझकर पहले से ही उसके अधीन बन जाना और उसे व्यक्तिगत श्रद्धांजलि भेंट करना उचित समझा था।

किन्तु समुद्रगुप्त निष्ठुर आक्रमणकारी न था बल्कि एक सहृदय विजेता था जो पराजित शत्रुओं के साथ उदारता का व्यवहार करता था। "उसकी कीर्ति, जो सारे संसार में व्याप्त है, उन राज-परिवारों के पुनरुत्थान के कारण है जिन्हें उसने पराजित करके प्रभुत्वहीन बना दिया था।"

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने-आपको एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बना लिया जो कि पूर्व में ब्रह्मपुत्र से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक

और उत्तर में हिमालय और काश्मीर तक फैला हुआ था। किन्तु उसके प्रत्यक्ष प्रभुत्व और अधिकार के क्षेत्र से उसके प्रभाव और आधिपत्य तथा उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तीर्ण था। हमें एक चीनी इतिहासकार से पता चलता है कि लंका के राजा मेघवर्मन (सन् ३५२-७६ ई०) ने दो भिक्षुओं को, जिनमें से एक स्वयं उसका अपना भाई था, बोध गया भेजा था ताकि वे बोधि वृक्ष के पूर्व की ओर स्थित अशोक के मठ के दर्शन करके रत्न-जटित सिंहासन पर श्रद्धांजलि अर्पित कर सकें। विशेष सौजन्य प्राप्त न करके लौटे हुए उन भिक्षुओं ने अपने राजा से भारत की यात्रा करने वाली अपनी प्रजा के लिए ठहरने आदि का उचित प्रबन्ध करने के लिए कहा। अतः लंका के राजा ने रत्नों तथा अन्य बहुमूल्य उपहारों के साथ, जिनके लिए लंका प्रसिद्ध था, अपने दूतों को भारतीय सम्राट् के पास भेजा जिसने तुरन्त ही उन्हें बोधिवृक्ष के निकट एक मठ बनाने की अनुमति दे दी। लंका के राजा ने तीन मंजिल का एक मठ बनवाया जिसके चारों ओर ३० या ४० फुट ऊँची दीवार थी और जिसमें छः बड़े कमरे तथा तीन मीनारें थीं। यह मठ अन्दर से चित्रों से सुसज्जित था और उसमें सोने-चाँदी की बनी हुई तथा रंग-बिरंगे रत्नों से जटित बुद्ध की एक मूर्ति थी। युवान च्वांग ने इस मठ का नाम महाबोधि संघाराम बताया है जिसमें उसने "१००० भिक्षुओं को, जो कि सभी महायान और स्थविर विचार-धारा के थे" रहते देखा था (वाटर्स ii, १३६)। अतः लंका का राजा समुद्रगुप्त से मैत्री स्थापित करने के लिए उत्सुक था। लंकाराज द्वारा बहुमूल्य उपहारों सहित भेजे हुए दूतों का ही उल्लेख संभवतः उपर्युक्त शिला-लेख में इस प्रकार हुआ है—"सिंहल तथा द्वीपों की जनता के उपहार आए।"

उत्तर-पश्चिम में समुद्रगुप्त का प्रभाव बहुत दूर तक फैल चुका था। वहाँ के बहुत-से राजा निश्चय ही उससे युद्ध में पराजित हो चुके होंगे, क्योंकि वे उसके कृपा-पात्र बनने के बहुत इच्छुक प्रतीत होते

थे। उनके द्वारा समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किये जाने का उपर्युक्त शिला-लेख में इस प्रकार उल्लेख किया गया है—"आत्म-बलिदान, कुमारियों को दान और अपने राज्यों पर शासन करने के स्वीकृति-पत्रों की याचनाओं में उसके उस भुजा-बल का परिचय मिलता है जिसके द्वारा उसने समस्त संसार को एक सूत्र में बाँध दिया था।" (एलन-कृत 'कैटलॉग ऑफ़ इण्डियन क्वायन्स', पृ० २४) और इस प्रकार की श्रद्धांजलि अर्पित करने वालों को "देवपुत्र, षाही, षाहानुषाही, शक और मुरुण्ड" कहा जाता था। इन नामों में से प्रथम तीन उपाधियाँ हैं और बाकी दोनों जातियों के नाम हैं। ये उपाधियाँ आरम्भ में कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव नामक महान् कुशान-सम्राटों ने अंगीकार की थीं। तृतीय और चतुर्थ शताब्दी तक कुशान साम्राज्य कई छोटे राज्यों में विभक्त हो चुका था जिनके शासकों ने अपने पदों के अनुसार इन उपाधियों को अपना लिया था। किदारा कुशान नामक कुशान जाति की एक शाखा ने 'शाही' उपाधि अपनाई थी। 'षाही-षाहानुषाही' अधिपति अथवा राजाओं के राजा के लिए ईरानी उपाधि थी, जो कि भारत के बाहर किसी महान् सम्राट् के लिए प्रयुक्त की गई थी, और विनसैन्ट स्मिथ के अनुसार यह महान् राजा सासानी सम्राट् सपोर द्वितीय था, जिसने इस उपाधि को अपनाया था। किन्तु ऐलन के अनुसार यह महान् राजा कुशान जाति का था "जिसका साम्राज्य भारतीय सीमा से लेकर ऑक्सस तक फैला हुआ था" क्योंकि "गुप्त और सासानी साम्राज्यों के बीच किसी भी प्रकार के सम्पर्क का प्रमाण नहीं मिलता, जबकि हम जानते हैं कि इन दोनों साम्राज्यों के बीच एक अल्प शक्तिशाली साम्राज्य भी था।" यह कहना कठिन है कि 'दैवपुत्र' उपाधि किसके लिए प्रयुक्त की गई थी जो कि उस चीनी शाही उपाधि के तुल्य है जिसका अर्थ 'स्वर्गपुत्र' होता है, और यह उपाधि कुशान सम्राटों ने चीनियों से प्राप्त की थी जिस प्रकार की 'षाहानुषाही' नामक उपाधि बैक्ट्रिया और भारत के सीथियन शासकों

से प्राप्त की गई थी। केनेडी के मतानुसार चीनी इतिहासकारों ने 'भारत का देवपुत्र' पंजाब के किसी शासक के लिए कहा होगा, जिसका देश, उनके अनुसार, हाथियों के लिए प्रसिद्ध था। (*उपरोक्त* पृ० xxvii)

शकों में सौराष्ट्र के पश्चिमी क्षत्रपों को भी शामिल किया जा सकता है, जिनकी सीमाओं तक समुद्रगुप्त ने अपना साम्राज्य बढ़ाकर अपने पुत्र द्वारा उनके जीत लेने का रास्ता बना दिया था। किन्तु उत्तर में अन्य शक भी थे जिन्होंने "कुशानों जैसे सिक्के जारी किये थे और वैसे ही समुद्रगुप्त के भी सिक्के थे" (*उपरोक्त*, पृ० xxvii) और सम्भवतः इन्हीं शकों का उपयुक्त शिला-लेख में उल्लेख हुआ है।

"चूँकि समुद्रगुप्त के सिक्कों पर पंजाब के कुशान राजाओं का बहुत प्रभाव था और काबुल के कुशान राजाओं का बिलकुल प्रभाव नहीं था, इसलिए यह प्रमाणित होता है कि समुद्रगुप्त के शस्त्र इतनी दूर तक नहीं पहुँचे थे।" (*उपरोक्त*)

मुरुण्ड भारत पर शासन करने वाली उन जातियों में से थे जिनकी उत्पत्ति विदेशीय थी और पुराणों में जिनका नाम शक, यवन और तुखारों के साथ आता है। कुछ जैन ग्रंथों में एक मुरुण्डराज का उल्लेख मिलता है, जो कि कान्यकुब्ज का शासक और पाटलिपुत्र का निवासी था, जबकि संभवतः तोलेमी के अनुसार (vii, २, १४) गंगा के बाएँ तट पर रहने वाली जाति को मुरुण्ड कहा गया है। तृतीय शताब्दी का एक चीनी अभिलेख मिलता है, जिसमें भारत के एक प्रदेश के राजा का नाम मिओन-लून (*उपरोक्त*, xxix) बताया गया है। अतः गुप्त साम्राज्य संभवतः मुरुण्डों के खण्डहरों पर बना था।

अतः समुद्रगुप्त का आधिपत्य लंका से लेकर देवपुत्रों के देश, शकों के पंजाब, गंधार के षाही कुशान और काबुल के षाहानुषाहियों के राज्यों को अपनी लपेट में लेता हुआ आक्सस तक फैला हुआ था।

समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ की उस प्रथा को पुनः आरम्भ करके

अपने आधिपत्य की विधिवत् घोषणा की जो कि शुंग सम्राट् पुष्यगुप्त के पश्चात् ४०० वर्ष तक सम्पूर्णतः स्थगित थी, क्योंकि उसके बाद भारत में ऐसा कोई भी शासक न हुआ था जिसने सम्राट् का पद पाया हो और जो अश्वमेध यज्ञ करने के योग्य हो। इस अवसर पर बनाई गई कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ आज भी मिलती हैं जो कि ब्राह्मणों को दान देने के लिए बनाई गई थीं। इन मुद्राओं में यज्ञ के घोड़े का चित्र है और साथ में लिखा है—"अटूट पराक्रम वाले महाराजाधिराज ने पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके अब स्वर्ग पर विजय प्राप्त की है (यज्ञ आदि द्वारा)।" इन सिक्कों के दूसरी तरफ रानी का चित्र है और उस पर लिखा है 'अश्वमेध पराक्रमः।' इस अश्वमेध यज्ञ का पत्थर की उस घोड़े की मूर्ति से भी पता चलता है जो कि अवध में मिली है और अब लखनऊ के संग्रहालय में है। इस पर प्राकृत भाषा में निम्नलिखित अपूर्ण कथन लिखा है—'द्गुत्तस्स देयधम्म'

समुद्रगुप्त के इतिहास का पता बहुत-कुछ उसकी अपनी मुद्राओं से मिलता है जिनमें दी गई सूचनाएँ शिलालेखों में दी गई सूचनाओं से बहुत-कुछ मिलती हैं। समुद्रगुप्त की विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ निम्नलिखित हैं—(१) पताका, (२) धनुर्धारी, (३) फरसाधारी, (४) चन्द्रगुप्त प्रथम, (५) काच, (६) सिंह, (७) गायक और (८) अश्वमेध। (६) और (७) के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की मुद्राओं पर समुद्रगुप्त की विजय तथा उसकी प्रभुसत्ता का उल्लेख है। प्रथम प्रकार की मुद्रा के अलग-अलग सिक्कों पर लिखित अंशों को मिलाकर पढ़ने से निम्नलिखित वाक्य मिल पाया है—"समरशतविततविजयो जितरिपुर अजितो दिवं जयति"—जिसका अर्थ है कि "वह अपराजित जिसने सैकड़ों युद्ध जीते हैं, अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अब स्वर्ग पर विजय प्राप्त कर रहा है।" द्वितीय प्रकार की मुद्रा पर ये शब्द अंकित हैं—"अप्रतिरथ विजित्य क्षितिम् सुचरितैर दिवं जयति" जिसका अर्थ है कि "पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके अपराजित सम्राट् अपने

सुकृत्यों से स्वर्ग पर विजय प्राप्त कर रहा है" (सम्भवतः यज्ञादि द्वारा, किन्तु अश्वमेध द्वारा नहीं; क्योंकि इस प्रकार के सिक्के अश्वमेध प्रकार के सिक्कों से पहले के बने हुए मालूम होते हैं)। तृतीय प्रकार की अर्थात् फरसे वाली मुद्रा पर निम्नलिखित शब्द अंकित हैं, जो कि किसी एक पूरे सिक्के पर नहीं मिलते—"कृतान्तपरशुर जयति-अजित-राजजेताजितः:"—जिसका अर्थ है "कृतान्त का फरसा धारण करने वाला अपराजित राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाला अजेय विजेता विजयी है।" यहाँ उसे यम के तुल्य बताया गया है, जिसकी शक्ति अप्रतिहत है। इलाहाबाद और इराण शिला-लेखों में उसे क्रोध में अंतक (जो कि यम का एक अन्य नाम है) के तुल्य बताया गया है। काच प्रकार की मुद्रा में लिखा है—"काचो गाम अवजित्य दिवं कर्मभीर उत्तमैर जयति" अर्थात् "काच पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके अपने उच्चतम कृत्यों से स्वर्ग पर विजय प्राप्त कर रहा है" जब कि इसी सिक्के के दूसरी ओर लिखा है—"सर्वराजोच्छेता" अर्थात् "समस्त राजाओं का संहार करने वाला।"

अतः यह स्पष्ट है कि ये तरह-तरह के सिक्के उसकी विजय योजना की पूर्ति के बाद ही जारी किये गए थे। यह उन सिक्कों पर अंकित शब्दों से ही नहीं बल्कि उनकी बनावट से भी मालूम होता है। मुद्रा-शास्त्रियों के अनुसार प्रथम पाँच प्रकार के सिक्के कुशान सिक्कों पर आधारित थे जिनके निम्नलिखित अंग समुद्रगुप्त की मुद्राओं में भी मिलते हैं—(१) सम्राट् के नाम का ऊपर से नीचे की ओर लिखा जाना जैसा कि प्रथम प्रकार की मुद्रा में मिलता है; (२) मुद्रा की दूसरी ओर सिंहासन के पृष्ठभाग का निरर्थक चित्र जो कि कुशान सिक्कों की नकल है जिनमें दूसरी तरफ एक ऊँचे सिंहासन पर देवी अरदोचो (AP△OXPO) का चित्र होता था और (३) राजा का थोड़े बहुत अन्तर के साथ कुशान वेश-भूषा में दिखाया जाना। अतः समुद्रगुप्त ने उत्तरकालीन कुशान राजाओं पर अपना आधिपत्य जमाकर ही उनके

सिक्कों के आधार पर अपने सिक्के बनाये थे। उसने बाद में अन्य प्रकार के सिक्के भी जारी किये थे, जिनमें उसकी अपनी मौलिकता और कुशान प्रभाव से उसके स्वतन्त्र हो जाने का परिचय मिलता है। सिंह और गायक प्रकार की मुद्राओं में सम्राट् की वेश-भूषा भी कुशान प्रभाव से मुक्त है "अलंकारों के अतिरिक्त कमर तक उसका शरीर नग्न है; कई सिक्कों में कुशानों-जैसी नुकीली टोपी की जगह एक चुस्त टोपी पहने हुए राजा को दिखाया गया है; और कई सिक्कों में तो उसे पूर्णतः नंगे सिर दिखाया है," जब कि उन सिक्कों की दूसरी तरफ लक्ष्मी देवी को देशी वेश-भूषा में, न कि देवी अरदोक्षो की भाँति दिखाया गया है।

किन्तु समुद्रगुप्त अपने पराक्रम के कारण ही नहीं बल्कि मान व-कल्याण-सम्बन्धी कार्यों में अपनी प्रवीणता तथा अपनी साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों के लिए भी प्रसिद्ध था। इस कथन का यथोचित प्रमाण उसके शिला-लेखों और उसकी मुद्राओं से मिलता है। इलाहा-बाद स्तम्भ-लेख में बताया गया है कि शास्त्रों में वह कितना निपुण था (५वीं पंक्ति शास्त्र-तत्त्व-आर्थभर्त्तुः, १५वीं और ३०वीं पंक्तियाँ); कि स्वयं विद्वान् होने के कारण उसे विद्वानों के साथ उठना-बैठना कितना रुचिकर प्रतीत होता था (५वीं पंक्ति)। किन्तु उसका ज्ञान धर्मग्रन्थों तक ही सीमित न था। वह कवियों में श्रेष्ठ था (कविराज, २७वीं पंक्ति) और उसकी "विभिन्न काव्य-कृतियाँ विद्वानों की आजीविका के लिए पर्याप्त थीं" (२७वीं पंक्ति) जिनके कारण उसे कीर्ति का साम्राज्य प्राप्त हो गया था) (कीर्तिराज्यम् भुनक्ति, छठी पंक्ति)। वह "उस सच्ची कविता" में दक्ष था जो कि "कवियों की मानसिक शक्ति को स्वतः प्रस्फुटित करती हैं" (१६वीं पंक्ति)। "उसकी कुशाग्र और सुसंस्कृत बुद्धि ने इन्द्र के गुरु कश्यप तक को लजा दिया था" (२७वीं पंक्ति)। कविता के अतिरिक्त संगीत-कला में भी वह प्रवीण था। उसने "अपनी गायन-कला तथा संगीत-विद्या द्वारा नारद को भी लजा दिया था" (गान्धर्व-ललित : २७वीं पंक्ति)। गायक के चित्र वाले सिक्कों में समुद्र -

गुप्त को एक ऊँची पीठ वाले आसन पर पालथी मारकर बैठे हुए दिखाया गया है। वह कटिवस्त्र, चुस्त टोपी, हार, कर्णफूल और बाजूबन्द पहने हुए है और अपने घुटनों पर रखी हुई वीणा बजा रहा है और उसके सिंहासन के नीचे पादासन है। कई सिक्कों में उसे नंगे सिर और ज्यादा आराम से बैठा हुआ दिखाया गया है।

कविता और संगीत की कोमल कलाओं में रुचि रखने के साथ ही युद्ध की कठोर कला में भी वह निपुण था। उसने अपनी कई मुद्राओं पर अपने-आपको एक धुनर्धारी के रूप में चित्रित किया है (ऊपर उल्लिखित दूसरी प्रकार के), उसके बाएँ हाथ में धनुष है और दाहिने हाथ में बाण, जिसका सिरा जमीन पर है। अन्य कई सिक्कों पर वह एक अजेय शिकारी के रूप में चित्रित है जिनमें उसे 'व्याघ्र-पराक्रम' की उपाधि दी गई है; इन सिक्कों की दूसरी ओर उसे एक सिंह को कुचलते हुए दिखाया गया है। केवल एक कटिवस्त्र, पगड़ी और कुछ अलंकार पहने हुए वह सचमुच पराक्रम का सजीव चित्र है।

वह अपने शत्रुओं के प्रति निष्ठुर किन्तु अपनी प्रजा के प्रति दयालु था। उसके लौह-कवच के भीतर सदा एक मानवीय हृदय धड़कता रहता था। उपर्युक्त शिला-लेख में कहा गया है कि "किस प्रकार उस दयावान् का कोमल हृदय था, जिसे केवल श्रद्धा और अभिवादन द्वारा जीता जा सकता था (२५वीं पंक्ति)। परास्त शत्रु को सदा क्षमा करने वाला वह सम्राट् "अपने भुजा-बल द्वारा जीते हुए राजाओं को उनकी सम्पत्ति पुनः प्राप्त कराने के लिए अपने पदाधिकारी नियुक्त किया करता था" (२६वीं पंक्ति)। अपनी प्रजा के लिए वह "दया का साक्षात् देवता था, और निरीह, दरिद्र, असहाय तथा रुग्ण व्यक्तियों की सहायतार्थ उसका मस्तिष्क सदा व्यस्त रहता था।" (उपरोक्त) उसे "सैकड़ों हज़ारों गायों का दान करने वाला" भी कहा गया है (२५वीं पंक्ति) इराण लेख में उसके सुवर्ण-दान का भी उल्लेख है, जो कि उसने प्रत्यक्षतः अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर किया था।

उसके उत्तराधिकारियों के कुछ शिला-लेखों से (जैसे कि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के विलसड, बिहार और भितारी के स्तम्भ-लेख तथा गया का ताम्र-लेख, जो कि स्वयं समुद्रगुप्त का बताया जाता है) उसके व्यक्तिगत जीवन का भी कुछ विवरण प्राप्त हो पाया है। उसके पितामह के पिता का नाम गुप्त, पितामह का नाम घटोत्कच, पिता का नाम चन्द्रगुप्त, माता का नाम कुमारदेवी, जो कि लिच्छवि राज-कन्या थी, तथा पत्नी का नाम महादेवी दत्तदेवी था। अश्वमेध वाली उसकी मुद्राओं पर उसकी महारानी (महिषी) का चित्र अंकित है पर उसका नाम नहीं दिया गया है। वह ढीले-ढाले वस्त्र पहने हुए आभूषणों से सुसज्जित है और उसके दाहिने हाथ में एक चँवर है। चन्द्रगुप्त के चित्र वाली मुद्राओं में उसके माता-पिता दोनों का चित्र है; पिता हाथ में एक चन्द्राकार पताका लिये हुए हैं और माता को एक अंगूठी अथवा हार दे रहे हैं। पिता एक चुस्त कोट, पजामा और पगड़ी, कर्णफूल और बाजूबन्द पहने हुए हैं जब कि उनकी पत्नी कर्णफूल, हार, बाजूबन्द तथा सिर पर एक चुस्त कपड़ा और बाकी ढीले-ढाले वस्त्र पहने हुए है।

यह देखने लायक बात है कि उपर्युक्त शिला-लेखों में उसके कृत्यों का उल्लेख करके उसके नाम के आगे कई प्रचलित विशेषण लगाये गए हैं जैसे कि—"समस्त राजाओं का उपसंहारक, संसार में जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं, जिसकी कीर्ति चारों सागरों तक व्याप्त थी, जो कि धनद, वरुण, इन्द्र और अन्तक के तुल्य था, जो कि स्वयं कृतान्त का परशु धारण करने वाला, न्यायोचित रूप से प्राप्त की हुई अपनी सम्पदा में से अनेक गाएँ तथा कोटि-कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ दान देने वाला और अश्वमेध यज्ञ की लुप्त प्रथा को पुनः आरम्भ करने वाला।"

उसकी मुद्राओं से हमें उसके धर्म के बारे में भी मालूम होता है। अपने पिता की चन्द्राकार पताका की जगह उसने गरुड़ध्वज को स्थान दिया और इस प्रकार विष्णु का वाहन गरुड़ गुप्त सम्राटों का प्रतीक बना। इलाहाबाद लेख में हम उत्तर के उन राजाओं का उल्लेख पाते

हैं जो कि "गरुड़ मुद्रा वाले राज्य-पत्र प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे," और इस प्रकार गरुड़ समुद्रगुप्त का व्यक्तिगत चिह्न बन चुका था। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने-आपको भागवत कहा है, सम्भवतः वैष्णव होने के कारण। किन्तु उसका वैष्णव धर्म उसकी सामरिकता के प्रतिकूल न था, बल्कि 'भगवद्गीता' में बताये गए क्षत्रिय धर्म के अनुसार ही था। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि वह अपने आरम्भिक जीवन में बौद्ध गुरु वसुबन्धु द्वारा बौद्ध धर्म के प्रभाव में भी आया था। कवि वामन (लगभग ८०० ई०) ने चन्द्रगुप्त के एक ऐसे पुत्र का उल्लेख किया है जिसका नाम चन्द्रप्रकाश था और जो कि विद्वानों का आदर करता था, और वामन के अनुसार, साहित्यिकों की श्रद्धा करने के कारण ही उस नवयुवक राजन्य ने वसुबन्धु को अपना मन्त्री नियुक्त किया था। यह नवयुवक राजन्य, बहुत सम्भव है, समुद्रगुप्त के अतिरिक्त और कोई न था, जिसके कम-से-कम दो नाम और रहे होंगे, एक काच और दूसरा चन्द्रप्रकाश। परमार्थ-कृत 'वसुबन्धु की जीवन कथा' में लिखा है कि अयोध्या के राजा विक्रमादित्य को, जिसका 'सांख्य दर्शन' की ओर झुकाव था, वसुबन्धु ने बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट किया और उससे कहा कि वह उसे अपने पुत्र बालादित्य का शिक्षक नियुक्त कर ले। बालादित्य ने राजा बनने पर वसुबन्धु को अयोध्या लाकर उसकी बहुत आवभगत की। चूँकि वसुबन्धु का जीवन और मृत्यु-काल चौथी शताब्दी ईसवी में बताया जाता है (मैकडोनेल-कृत 'संस्कृत लिटरेचर', पृ० ३२४), अतः समुद्रगुप्त का नाम ही बालादित्य रहा होगा। गया के ताम्रलेख से भी ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के साम्राज्य में अयोध्या एक प्रमुख नगर था; जिसके लिए कहा गया है कि वह "बड़े-बड़े जहाज़ों, हाथियों और घोड़ों" से परिपूर्ण था। युआन च्वांग ने भी वसुबन्धु को श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य से सम्बन्धित बताया है "जिसने भारत को अपने अधीन कर लिया था," जो कि प्रत्यक्षतः समुद्रगुप्त ही था। अन्त में वसुबन्धु और समुद्रगुप्त की तिथियाँ

भी मिलती हैं (विनसेण्ट स्मिथ-कृत 'अर्ली हिस्ट्री', पृ० ३२८ तथा उसके आगे के पृष्ठ)। सम्भवतः वसुबन्धु के सम्पर्क के कारण ही समुद्र-गुप्त में वह उदारता आई थी जिसके फलस्वरूप उसने लंका के बौद्ध राजा का अपने देश से आने वाले यात्रियों के लिए बोध-गया में एक मठ बनवाने का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया था, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है।

हर्ष

(६०६—६४७ ई०)

हर्ष में समुद्रगुप्त और अशोक दोनों के ही कुछ गुण मिलते हैं। विभिन्न दिशाओं में अपनी पूर्ण विजय द्वारा वह समुद्रगुप्त के सामरिक आदर्शों की याद दिलाता है। उसने सर्वप्रथम सम्राट् का पद प्राप्त किया और देश के इतिहास को वह एकता प्रदान की, जो कि स्थानीय इतिहासों में खोकर रह गई थी। और फिर अपने साम्राज्य में समस्त युद्धों का अन्त करके और अपने प्राधिकार की बलिष्ठ भुजा से उसे राजनीतिक एकता प्रदान कर वह अशोक की तरह ही शान्ति के कार्यों में, देश के भौतिक और नैतिक हितों की वृद्धि में, और उसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व तथा उसकी महत्ता का विकास करने में संलग्न हो गया।

हर्ष के युद्ध अकारण आक्रमणकारी न थे, बल्कि प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित हुए थे। उस समय भारत की राजनीतिक स्थिति असंतुलित हो चुकी थी। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद अनेक छोटे राज्य उदय हो गए थे और जिनकी पारस्परिक फूट के कारण उत्तर से हूणों के आक्रमण पुनः होने लगे थे। उस स्थिति में एक ऐसा राजा चाहिए था, जो कि क्षत्रियों के प्राचीन आदर्श को निभाकर सारे देश को एक प्राधिकार के छत्र के नीचे ला सके। हर्ष के पिता, स्थाण्वीश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन ने इस आदर्श को बहुत-कुछ प्राप्त कर लिया था; सिन्धु प्रदेश और गंधार के हूण राजाओं तथा गुजरात और मालवा के

अराजक लाटों (बाण-कृत हर्ष-चरित[1], १३३) से अपना लोहा मनवा-कर उसने 'प्रतापशील' की उपाधि प्राप्त कर ली थी। किन्तु हूणों के साथ संघर्ष करते हुए उसका देहान्त हो गया, जिनके विरुद्ध उसने राजकुमार राज्यवर्धन को एक बहुत बड़ी सेना और वृद्ध सलाहकारों के साथ लड़ने के लिए भेजा था। राज्यवर्धन का छोटा भाई हर्ष भी एक अश्व-सेना के साथ उसके पीछे हो लिया और जब वह उत्तरी पहाड़ियों में था उसे कुरंगक नामक दूत ने उसके पिता की अस्वस्थता का समाचार दिया, और जब वह तुरन्त राजधानी लौटा तो उसने अपने पिता का देहान्त होते और अपनी माता रानी यशोवती को सती होते देखा (१८७)। राजकुमार राज्यवर्धन भी हूणों पर विजय प्राप्त करके लौटे, पर अपने मृत पिता के लिए उनके आँसू सूख भी न पाए थे कि उन्हें अपनी बहन राज्यश्री के विधवा होने का हृदय-विदारक समाचार मिला, जिसके पति मौखरिराज गृहवर्मन की मालवा के राजा ने हत्या करके राज्यश्री को कान्यकुब्ज में बन्दी बना रखा था। अतः नये राजा राज्यवर्धन, अपने भाई हर्ष की इच्छा न होते हुए भी, उसे राजधानी का भार सौंपकर, स्वयं मालवा के हत्यारे राजा से बदला लेने चल पड़े। किन्तु मुसीबतें कभी भी अकेली नहीं आती हैं। राज्यवर्धन के प्रधान अश्वाधिकारी कुन्तल ने हर्ष को खबर दी कि मालवा की सेना को सुगमता के साथ परास्त करने के बाद, उसके भाई गौड़राज शशांक के फंदे में फँसकर मर चुके हैं। अतः हर्ष प्रतिशोध का युद्ध लड़ने के लिए बाध्य हो गया। वृद्ध सेनानायक सिंहनाद के नेतृत्व में मन्त्रि-मण्डल ने हर्ष को रिक्त सिंहासन पर बैठने के लिए आमन्त्रित करते हुए सलाह दी कि वह न केवल गौड़राज को ही दण्ड दे, बल्कि उस व्यवस्था को, देश में स्थान-स्थान पर छोटे-मोटे युद्ध-रत राजाओं की व्यवस्था को ही नष्ट कर दे; जिसमें विश्वास-घात और प्रतिहिंसा उपजती है। और

१. इस अध्याय में हर जगह मैंने इस रचना के कावेल तथा टामस-कृत अनुवाद से उद्धरण दिये हैं।

इस प्रकार हर्ष 'दिग्विजय' के लिए निकल पड़ा, जिसकी घोषणा प्रधान मन्त्री अवन्ति ने की। इसी समय उसका चचेरा भाई भण्डि, जो कि राज्यवर्धन के साथ मालवा-युद्ध में गया था, मालवा की सारी सेना, हाथी, घोड़े और खजाने को जीतकर लौटा और उसने खबर दी कि राजकुमारी राज्यश्री कान्यकुब्ज के बन्दीगृह से निकलकर विंध्यवन में चली गई है। अतः हर्ष ने सर्वप्रथम विंध्यवन की ओर ही कूच किया और वनराज व्याघ्रकेतु, निर्घात और भूकम्प तथा बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र की सहायता से अपनी विधवा बहन को ठीक उस समय बचा लिया जब कि वह सती होने के लिए अग्नि में प्रवेश करने वाली थी। बौद्ध भिक्षु के प्रभाव से दोनों भाई-बहन बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए, किन्तु हर्ष ने निर्णय किया कि प्रतिशोध और विजय की अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के बाद ही "वे दोनों एक साथ लाल वस्त्र धारण करेंगे" (२८८)।

५००० हाथियों, २०,००० घुड़सवारों और ५०,००० पैदल सैनिकों के साथ वह "पूर्व दिशा में चल पड़ा और उन राज्यों पर आक्रमण करके, जिन्होंने उसका आधिपत्य स्वीकार न किया था, लगातार छः वर्ष तक लड़ता रहा और अन्त में पंचभारत उसके अधीन हो गए", जैसा कि युआन च्वांग से हमें ज्ञात होता है (वाटर्स १, ३४३)। सवाराष्ट्र (पंजाब), कान्यकुब्ज, गौड़ (बंगाल), मिथिला और उड़ीसा वे 'पंच भारत' बताये गए हैं। हर्ष की समस्त विजयों के विवरण नहीं मिलते। बाण के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्ध और एक हिमाच्छादित पर्वतों के देश (सम्भवतः नेपाल) को उसने अपने अधीन किया, जब कि आसाम के राजा ने आरम्भ से ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। पश्चिम में उसने वलभि राज्य पर, जिसमें उस समय मो-ला-पो भी शामिल था, (पश्चिमी मालवा को युआन च्वांग द्वारा दिया हुआ नाम) तथा उसके अधीन राज्य आनन्दपुर, की-ता (कच्छ ?) और सु-ला-चा (सूरत) पर भी विजय प्राप्त की। वलभि के राजा

ध्रुवसेन द्वितीय अथवा ध्रुवभट्ट (वाटर्स, ii,२४६) ने गुर्जरराज दद्द द्वितीय की शरण ली, जो कि दक्षिण के अधिपति चालुक्यराज पुलिकेशिन द्वितीय का एक सामन्त था (F. P. ind. vi पृष्ठ १० तथा Ind. Ort. xiii 70); किन्तु बाद में उसे उत्तराधिपति का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा, जिससे मैत्री करने के लिए उसने उससे अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया। उड़ीसा भी उसके साम्राज्य का एक भाग था (*लाइफ आफ ह्यु एन सांग, पृ० १४५*)। नेपाल पर उसकी विजय के सम्बन्ध में मतभेद है। उसकी विजय का प्रमुख प्रमाण नेपाली अभिलेखों में उल्लिखित वह संवत् है, जिसके बारे में, इतिहास के साथ अन्याय किये बिना ही, कहा जा सकता है कि वह नेपाल की विजय के बाद हर्ष के नाम पर आरम्भ हुआ था। सब दिशाओं में उसकी विजय सुगमता से होती रही, पर अन्त में दक्षिणाधिपति पुलिकेशिन द्वितीय ने, जिसके आधिपत्य से उसने वलभिराज को निकाल लिया था, उसे विन्ध्य और रीवा में परास्त कर दिया (*फ्लीट-कृत 'डाइनेस्टीज़ ऑफ द कैनेरीज डिस्ट्रिक्ट्स', पृ० ३५०* तथा उसके आगे के पृष्ठ)। कुछ अभिलेखों में कहा गया है कि "समस्त उत्तरी भारत के अधिपति श्री हर्षवर्धन को परास्त करके पुलिकेशिन ने 'परमेश्वर' की उपाधि प्राप्त की" (उपरोक्त)।

उत्तर में अपना आधिपत्य स्थापित करके हर्ष ने अपनी सेना की शान्तिकालीन संस्थापना की, अर्थात् उसे इतना बढ़ा दिया कि साम्राज्य के किसी भी राज्य द्वारा अवज्ञा करना सम्पूर्णतः असम्भव हो। चीनी यात्री युआन च्वांग के अनुसार उसकी शान्तिकालीन सेना में ६०,००० हाथी और १००,००० घोड़े थे। बाण के अनुसार (६२) ये हाथी सम्राट् ने उपहार में प्राप्त किये थे या "उसके अपने हाथियों के क्षेत्र के अधिकारियों ने" सम्राट् के लिए प्राप्त किये थे। सम्राट् के हाथी को, जो कि सम्राट् का "खेल-कूद और युद्ध में मित्र था", दर्पशात कहा जाता था, और जो कि "उन नदियों को अपने मुख से फिर उँडेलता हुआ

प्रतीत होता था जिनका उसने अपने विजय-पथ पर पान किया था" (७९)। सम्राट् के घोड़े "वनायु (अरब) आरट्ट कम्बोज, भरद्वाज, सिंध और फारस"-जैसे सुदूर स्थानों से आये थे (७०)। हर्ष की सेना में ऊँट भी थे। इतनी विशाल सामरिक शक्ति के होते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि "तीस वर्ष तक अस्त्र उठाए बिना ही शान्ति के साथ" वह राज्य करता रहा, जैसा कि युआन च्वांग ने कहा था (वाटर्स ii, २४३)। उसके साम्राज्य के कोने-कोने में उसके प्राधिकार को कितना माना जाता था इसका एक उदाहरण निम्नलिखित घटना में मिलता है: आसाम के राजा ने चीनी यात्री को अपने यहाँ अतिथि के रूप में रोक रखा था, जिसे हर्ष ने बुलवाया था। आसाम के राजा ने उत्तर में कहलवाया कि हर्ष उसका सिर ले सकता है, पर उसका अतिथि नहीं। हर्ष ने तुरन्त उत्तर दिया "तो मुझे आपको अपना सिर भेजने का कष्ट देना होगा" और इस प्रकार मामला फौरन तय हो गया। अपने साम्राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था कायम करके हर्ष अशोक की तरह ही साहित्य और संस्कृति के कार्यों में तथा सामरिक प्रदर्शनों की जगह भव्य धार्मिक प्रदर्शनों और सौम्य सजावटों में रहने के लिए स्वतन्त्र हो गया। अपनी विजय-योजना पूरा करने के बाद वह अपने वचनानुसार बौद्ध धर्म की ओर झुका। उसने युआन च्वांग के प्रवचनों के फलस्वरूप, जिससे सर्वप्रथम वह बंगाल में स्थित कजुगृह (राजमहल) नामक स्थान में मिला था (वाटर्स, ii १८३), महायान बौद्ध धर्म को अंगीकार किया यद्यपि उसके पूर्वज तांत्रिक सम्प्रदाय तथा शिव और सूर्य के उपासक थे [बाण १०६, १७०); हर्ष का सोनपत ताम्र मुद्रा-लेख]।

बौद्ध धर्म के महायान पंथ की वृद्धि के लिए हर्ष ने कन्नौज में एक विशाल धार्मिक सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें विभिन्न भारतीय धर्मों के प्रतिपादकों को युआन च्वांग का व्याख्यान सुनने के लिए आमन्त्रित किया गया। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए शाही यात्रा आरम्भ हुई जिसमें अनेक हाथी और सैनिक साथ थे तथा सम्राट् का मित्र, आसाम

का राजकुमार भी अपने साथ २०,००० हाथी और ३०,००० जहाज लेकर सम्राट् के साथ था (जीवनी, पृष्ठ १७२)। सम्मेलन में १८ राजा ३,००० महायान और हीनयान बौद्ध भिक्षु, ३,०००ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ तथा नालन्दा मठ से आये हुए १००० बौद्ध विद्वान् उपस्थित थे। दो पर्ण मण्डपों में २००० व्यक्तियों के बैठने का प्रबन्ध था, और वहाँ भगवान् बुद्ध की एक स्वर्ण मूर्ति स्थापित की गई। प्रत्येक दिन सम्राट् के यात्रा-प्रासाद से भगवान् बुद्ध की मूर्ति लिये हुए २०० हाथियों के साथ उत्सव-यात्रा आरम्भ होती जिससे सम्राट् और कुमार इन्द्र और ब्रह्मा के रूप में होते और उनके साथ जुलूस में अन्य राजा, प्रमुख पदाधिकारी, मन्त्री औ पुजारी भी रहते और फिर मूर्ति की पूजा करने के पश्चात् सम्मेलन का कार्य आरम्भ होता। युआन च्वांग ने सभा-भवन के बाहर यह सूचना लिखवा रखी थी कि "यदि कोई उसके एक भी शब्द को तर्क के विरुद्ध सिद्ध कर देगा तो वह अपना सिर कटवाने के लिए तैयार है।" पाँच दिन तक सम्मेलन का कार्य बिना किसी विघ्न-बाधा के होता रहा और किसी ने कोई विरोध नहीं किया, पर जब सम्राट् को मालूम हुआ कि युआन च्वांग की हत्या करने का षड्-यन्त्र रचा जा रहा है तो उसने घोषणा की कि युआन च्वांग को चोट पहुँचाने वाले व्यक्ति का सिर काट लिया जायगा, और जो कोई उसके विरुद्ध बोलेगा उसकी जीभ काट ली जायगी। इस घोषणा को सुनकर युआन च्वांग के विरोधी एक साथ सभा छोड़कर चले आए, और फिर वाद-विवाद की स्वतन्त्रता का इस प्रकार दमन किये जाने के बाद, वह सम्मेलन अट्ठारह दिन तक सुगमतापूर्वक चलता रहा। फलतः युआन च्वांग को अपना सिर कटवाने की नौबत न आई, क्योंकि उसके व्याख्यान की सफल आलोचना करने वाला वहाँ कोई उपस्थित ही न था! एक अन्य विवरण के अनुसार वह षड्यन्त्र चीनी यात्री के विरुद्ध नहीं बल्कि सम्राट् के विरुद्ध था। कहा जाता है कि ५०० ब्राह्मणों ने सभा में सम्राट् के व्यवहार से अप्रसन्न होकर सभा-भवन की मीनार

में आग लगा दी, और सम्राट् को मार डालने के लिए एक हत्यारे को नियुक्त किया। यह कुयोजना असफल रही और ब्राह्मण षड्यन्त्रकारियों को भारत के सीमान्त पर निर्वासित कर दिया गया।

हर्ष ने बौद्ध धर्म की और कई प्रकार से भी सेवा की। वर्ष में एक बार बौद्ध भिक्षुओं को आमन्त्रित करके वह उन्हें इक्कीस दिन तक भोजनादि कराता था। वह उन्हें विचार-विनिमय के लिए भी एकत्रित करता और उनमें से सर्वोत्तम भिक्षुओं को अपना गुरु बनाकर उनका आदर करता जब कि नैतिक दृष्टि से हीन भिक्षुओं को देश से निर्वासित कर देता (वाटर्स, i ३४४)। उसने विभिन्न स्थानों में बौद्ध धर्मानु-यायियों के लिए अनेक आवास भी बनवाए थे। उसने काश्मीर से जबरदस्ती भगवान् बुद्ध का दाँत मँगवाया और कन्नौज से पश्चिम की ओर स्थित एक मठ में उसे सम्मान के साथ स्थान दिया। उसने १०० फीट ऊँची एक अष्टधातु का मन्दिर नालन्दा मठ को भेंट किया। युआन च्वांग के अनुसार उसने गंगा के तट पर हजारों स्तूप बनवाए जिनमें से प्रत्येक स्तूप १०० फुट ऊँचा था तथा बौद्ध तीर्थ-स्थानों पर अनेक मठ बनवाए और सभी मन्दिर-मठों को बड़ी उदारता से दान देकर सुसज्जित कराया। वह पशु-हत्या और मांस-भक्षण का निषेध करने में अशोक से आगे बढ़ा हुआ था और उसने अपने साम्राज्य में इस आज्ञा का उल्लंघन करने वाले के लिए कठोर दण्ड निर्धारित कर रखा था।

बौद्ध धर्म के प्रति उसके विशेष झुकाव के कारण उसकी राजधानी कन्नौज बौद्ध धर्म का केन्द्र बन चुकी थी। जब कि फ़ाहियान ने वहाँ केवल दो मठ देखे थे, युआन च्वांग के अनुसार वहाँ कम-से-कम १०० मठ थे।

बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव रखते हुए भी हर्ष अन्य धर्मों व जातियों का विरोधी न था जिन्हें उसने राज्य की ओर से संरक्षण प्रदान कर रखा था। प्रत्येक पाँचवें वर्ष वह एक सम्मेलन आयोजित करता था,

जिसे मोक्ष-सभा कहा जाता था, क्योंकि "धार्मिक दान में वह युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त सब-कुछ दान दे देता था।" युआन च्वांग ने एक ऐसा सम्मेलन देखा था जिसके बारे में सम्राट् ने बताया था कि वह उसके शासन-काल का छठा सम्मेलन है। इस सम्मेलन के लिए हिन्दुओं का पवित्रतम तीर्थ-स्थान प्रयाग चुना गया था, जहाँ कि "दान में दी हुई एक मुद्रा भी अन्य स्थानों में दी हुई एक सहस्र मुद्राओं से अधिक लाभप्रद थी।" यह 'दान-क्षेत्र' गंगा-यमुना के संगम के पश्चिम में एक रेतीले मैदान पर स्थित था, जहाँ कि आज भी भारत का सबसे प्राचीन और सबसे अधिक लोकप्रिय धार्मिक सम्मेलन—कुम्भ मेला—होता है। हर्ष इस सम्मेलन में कन्नौज से आया था और उसके साथ बीस राजा थे, जिनमें आसाम का राजा कुमार और वलभि का राजा ध्रुवभट्ट भी था। उन्होंने वहाँ ५००,००० व्यक्तियों को पहले से ही एकत्रित हुआ पाया। सम्मेलन के प्रथम दिन बुद्ध की पूजा में बहुमूल्य वस्त्र और वस्तुएँ दान दी गईं। अगले दो दिन सूर्य और शिव की पूजा हुई तथा पहले दिन से आधी वस्तुएँ दान दी गईं। चौथे दिन १०,००० चुने हुए बौद्ध-भिक्षुओं में से प्रत्येक को १०० स्वर्ण मुद्राएँ, एक मोती, एक सूती वस्त्र और तरह-तरह की खाने-पीने की चीजें तथा पुष्प और सुगन्ध आदि दान दिये गए। आगामी बीस दिन ब्राह्मणों को, फिर दस दिन साधुओं को तथा अगले दस दिन सुदूर देशों से आये हुए भिक्षुओं को दान देने में बीते। आठवाँ दान दरिद्र, असहाय और अनाथों के लिए था, और इस काम में पूरा एक महीना लग गया। "इतना सब दान दे देने के बाद पाँच वर्ष की संचित सम्पत्ति समाप्त हो चुकी थी। राज्य की सुरक्षा और सुव्यवस्था कायम रखने के लिए हाथी, घोड़े और सैनिक सामग्री के अतिरिक्त कुछ न बचा था। सम्राट् ने अपने जवाहरात और अपनी चीजें, अपने वस्त्र और अपने गले के हार और अपने मुकुट का चमकीला रत्न तक निस्संकोच दान में दे डाला। सब-कुछ दान दे

चुकने पर उन्होंने अपनी बहन जयश्री से एक साधारण-सा पुराना वस्त्र माँगा और उसे ओढ़कर दशभूमीश्वर बुद्ध की पूजा की" और उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि उनके सारे एकत्रित धन और सारी सम्पत्ति का सदुपयोग हुआ हैं (उपरोक्त, पृ० १८७) इस प्रकार दान देने में सम्राट् हर्ष को किसी भी युग और किसी भी देश का कोई भी राजा मात नहीं कर सकता। युआन च्वांग के अनुसार उनके दैनिक दान में १००० बौद्ध और ५०० ब्राह्मणों को भोजन कराना था, और यह कार्यक्रम तब भी न रुकता था जब कि वह यात्रा पर निकले होते थे (वाटर्स i, ३४४)।

हर्ष की विशाल-हृदय उदारता की अभिव्यक्ति उसके अन्य कई लोक-कल्याण के कार्यों में भी मिलती है। "भारत के नगरों और ग्रामों के समस्त प्रधान मार्गों पर उसने 'पण्यशालाएँ' बनवाई थीं, जहाँ खाने-पीने का प्रबन्ध था तथा यात्रियों और गरीब लोगों के लिए चिकित्सक भी थे जो कि निःशुल्क औषधियाँ देते थे" (बील, i २१४)। यात्रियों के विश्राम-गृह में चिकित्सा का प्रबन्ध आज के वर्तमान युग के लिए भी एक उदाहरण है! बाण ने हर्ष के सार्वजनिक कार्यों और उसके प्रशासन की मानवीयता की समान रूप से प्रशंसा की है— "उसके राज्य में यज्ञ की वेदियों से स्वर्ण-युग प्रस्फुटित होता प्रतीत होता, हवन के धुएँ के साथ कुसमय आकाश में विलीन होता, देवता-गण धवल मन्दिरों में बैठ पृथ्वी पर उतरते, मन्दिरों के श्वेत कलशों पर धर्म विराजता और ग्रामों के बाहर सभा-सम्मेलनों के लिए अनेक सुन्दर कुन्ज, दान-शालाएँ, धर्मशालाएँ और नारी-सभा-भवन बने हुए थे।" (१२३)।

धर्म का पुजारी दानवीर हर्ष साहित्य का भी महान् प्रेमी था। बाण ने बताया है कि अपनी मौलिकता के कारण वह काव्य-प्रतियोगिताओं में किस प्रकार प्रमुख रहता था (७९) किस प्रकार "उसकी काव्य-निपुणता और ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए शब्द नहीं मिलते थे" (८६)। किन्तु

राजकवि बाण के कथन का समर्थन अन्य निष्पक्ष प्रमाणों से भी होता है। हर्ष की मृत्यु के बाद भारत में आये हुए चीनी यात्री आइ्ज़िंग (६७३-६८७ ई०) ने बताया है कि "साहित्य के प्रति उसका अत्यन्त अनुराग था।" वह अपने दरबार के उन साहित्यिकों द्वारा बनाई हुई कविताएँ सुनता था, जिन्होंने एक बार अपने सम्राट् को जातक अथवा बुद्ध के पूर्व-जन्म-सम्बन्धी ५०० कविताएँ भेंट कीं, जो कि 'जातकमाला' नामक पुस्तक में संकलित हैं। उसने स्वयं 'नागानन्द' नामक एक नाटक की रचना की थी (जिसकी कहानी "बोधिसत्त्व जीमूतवाहन द्वारा एक नाग के स्थान पर स्वयं आत्म-समर्पण कर देने से सम्बन्धित है) जिसका "संगीत-निर्देशन और प्रदर्शन नृत्य तथा अभिनय के साथ एक संगीत-मण्डली ने किया था" (आइ्-ज़िंग, सम्पादन—ताकाकूसु, पृ० १६३)। संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों के अनुसार 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' नामक अन्य दो नाटक तथा एक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना का भी श्रेय उसे ही दिया जाता है, और कवि के रूप में उसकी ख्याति 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव से बढ़कर और भास तथा कालिदास के बराबर बताई जाती है। उसके द्वारा साहित्यिकों के पोषण का एक उदाहरण स्वयं बाण है जो कि 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' का रचयिता है, और हरिदत्त "जिसे उसने ख्याति प्राप्त कराई थी" (Ep. Ind. i, 180), और जयसेन, जो ज्ञान का भण्डार था, तथा जिसे हर्ष ने अस्सी बड़े नगरों का राजस्व प्रदान करके उड़ीसा में बसाया था (*जीवन-चरित्र*, पृ० १५४) और युवान च्वांग, जिसे उसने सदा राजसी सम्मान प्रदान किया था। कन्नौज के सम्मेलन की समाप्ति पर सम्राट् ने युवान च्वांग को १०,००० स्वर्ण मुद्राएँ ३०,००० रजत मुद्राएँ और १०० उत्तम सूती वस्त्र दिए थे तथा अठारह राजाओं में से प्रत्येक ने उसे बहुमूल्य रत्न देने का वादा किया था। किन्तु आध्यात्मिक व्यक्ति होने के नाते वह चीनी यात्री इन सब उपहारों को स्वीकार न कर सकता था (*जीवन चरित्र*. पृ० १८०)। वास्तव में हर्ष के द्वारा साहित्यिक

एवं धार्मिक पोषण-कार्य में उसके अपने राजस्व का एक चौथाई भाग व्यय हो जाता था, जो कि उच्च बौद्धिक व्यक्तियों को उपहारस्वरूप दिया जाता, जब कि दूसरा चौथाई भाग विभिन्न धार्मिक समुदायों की सहायता पर खर्च किया जाता (वाटर्स, i १७६)।

शान्ति, संस्कृति और धर्म के इस अनुवर्तन में उसके प्रशासन की सक्षमता का प्रमाण मिलता है, पर जिसका पूर्ण वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है। उस सक्षमता का सबसे बड़ा कारण स्वयं सम्राट् था! अपने युद्धों और अपनी यात्राओं द्वारा उसने उत्तर में कश्मीर और हूण-देश से लेकर दक्षिण में विन्ध्य प्रदेश और रीवाँ तक तथा पूर्व में उड़ीसा से लेकर पश्चिम में वलभी तक के अपने विशाल साम्राज्य के प्रत्येक भाग का परिचय प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार उसने एक शासक के प्रथम आवश्यक गुण को प्राप्त कर लिया था। युआन च्वांग ने कहा है: "सम्राट् अपने राज्य में सदा निरीक्षण के दौरे किया करते थे, और किसी भी जगह अधिक समय तक नहीं रहते थे, पर जहाँ भी रहते वहाँ अस्थायी आवास खड़े करवाते थे; किन्तु वर्षा ऋतु के तीन महीनों में वह कहीं भी बाहर नहीं जाते थे" (वाटर्स i, ३४४)। चीनी यात्री युआन च्वांग के आगमन के समय "सम्राट् अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों का निरीक्षण कर रहे थे" (बील, i, २१५)। हमें उसकी यात्रा के कई स्थानों का पता मिल पाता है। वह गंजाम ज़िले में स्थित कोनग्योध से उड़ीसा होता हुआ (जीवन-चरित्र पृ० १५६, १७२) बंगाल पहुँचा था और वहीं कजुगृह, राजमहल में उससे चीनी यात्री की प्रथम भेंट हुई थी। इसके उपरान्त अपने सम्मेलनों के सम्बन्ध में हम उसे कन्नौज और प्रयाग में पाते हैं, जब कि बाण ने उसे अजीरावती (अवध) में मणिताश नामक स्थान में देखा था।

वह अपने राज्य में पूर्ण वैभव के साथ यात्रा करता था, जैसा कि एक सम्राट् के लिए उचित था। बाण ने बताया है कि यात्राओं में किस प्रकार नौकर-चाकर उसके स्वर्ण पदासन, जलघट, प्याले, थूकदान और स्नान-

सामग्री; रसोई के बरतन आदि, सूअर के चमड़े की बनी हुई रस्सियों में बँधी बकरियाँ, झूलते हुए तोते, हरिण का माँस, खरगोश के बच्चे, जड़ी-बूटी और बाँस के अंकुर, छाछ के भरे बरतन, चूल्हे, और खाने-पीने की चीजें गरम करने के अनेक बरतनों की टोकरियाँ लेकर चलते थे," जब कि गाँव वाले दही, शीरा, मिश्री और फूलों के उपहार लेकर सम्राट् की प्रतीक्षा करते थे। सम्राट् की यात्रा अन्य राजाओं की उपस्थिति से और भव्य प्रतीत होती थीं। बाण ने बताया है (२३७) कि किस प्रकार मणितारा में सम्राट् के शिविर के चारों ओर "प्रसिद्ध अवनि-राजाओं के शिविर थे" और उनके आस-पास "हर ओर विजित सामन्त" ठहरे हुए थे, और प्रत्येक विदेशी राज्य के दूत, तथा प्रत्येक देश के निवासी भी वहाँ उपस्थित थे जो कि बड़ी मुश्किल से सम्राट् के दर्शन कर पाते थे। सम्राट् से मिलने के लिए बाण को "अधीन राजाओं से भरे हुए तीन दरबार पार करने पड़े थे" और चौथे दरबार में उसने सम्राट् हर्ष को एक चबूतरे के सामने एक खुली जगह में बैठा पाया, जिनसे कुछ दूर एक पंक्ति में सशस्त्र सैनिक खड़े थे और पास में उनके प्रियजन बैठे थे। सम्राट् स्वयं मोती की तरह चमकते हुए एक पत्थर के सिंहासन पर बैठे हुए अपने अधीन राजाओं के साथ खेल रहे थे (७८), और उनका बायाँ पैर लाल और नीलम से जड़े हुए एक पदासन पर रखा हुआ था (८१)। इस रत्न-जड़ित पदासन का उल्लेख युआन च्वांग ने भी किया है। सम्राट् के शिविर का बाहरी भाग भी समान रूप से भव्य था। द्वार पर खड़े हुए हाथियों की भीड़ से वह श्यामल प्रतीत होता था और कुछ दूर पर उछलते-कूदते हुए घोड़ों के कारण ऐसा लगता था कि मानो वह "लहरों पर स्थित" है। एक अन्य स्थान ऊँटों के समूह के कारण भूरा और दूसरा स्थान छत्रों अथवा चँवरों के हिलने-डुलने के कारण श्वेत दिखाई देता था।

इस सब वैभव-विलास के बीच सम्राट् ही सबसे अधिक व्यस्त व्यक्ति थे। चीनी यात्री युआन च्वांग के अनुसार "उनके लिए दिन

बहुत छोटा होता था (वाटर्स i,२४४) वह तीन भागों में विभक्त था, जिनमें से एक भाग राजकीय कार्य के लिए तथा शेष दो भाग धार्मिक कार्यों के लिए निर्धारित थे। वह अथक परिश्रम करते थे और अपने सुकार्यों के प्रति उनकी इतनी लगन थी कि वह सोना और खाना-पीना तक भूल जाते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशासन के लिए उनकी एक मन्त्री-परिषद् थी, जो कि कई अवसरों पर वास्तविक शक्ति का प्रयोग करती थी। राज्यवर्धन की अकाल मृत्यु के बाद के अराजकत्व-काल में उसने ही हर्ष को सम्राट् बनाया था (बील i, २११)। उन्होंने ही यह निर्णय किया था कि राज्यवर्धन को राजा शशांक के विश्वासघातक निमन्त्रण को स्वीकार करके उसके द्वारा आयोजित सम्मेलन में भाग लेना चाहिए, और इस प्रकार वे ही उसकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी थे (उपरोक्त)। युआन च्वांग ने यह भी बताया है कि "भूमि पर पदाधिकारियों के एक आयोग का अधिकार था" (बील, i, २१०) (किन्तु सम्भवतः यह भू-अनुदान द्वारा पदाधिकारियों का वेतन दिये जाने के बारे में कहा गया है।)

हमें हर्ष के कई मन्त्रियों और पदाधिकारियों के नाम भी ज्ञात होते हैं। बाण के अनुसार भण्डि प्रधान मन्त्री था जो कि राज्यवर्धन के साथ मालव-युद्ध में भाग लेने गया था; किन्तु युआन च्वांग के अनुसार भण्डि के प्रस्ताव पर ही राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् हर्ष को सम्राट् बनाया गया था। बाण के अनुसार अवन्ति "युद्ध और शान्ति का सर्वोच्च मन्त्री था," सिंहनाद वृद्ध प्रधान सेनापति, और स्कन्दगुप्त अश्व-सेना का प्रधान नायक था।

युआन च्वांग के अनुसार पदाधिकारियों को नक़द नहीं बल्कि भूमि-अनुदान द्वारा उनके अपने कार्य के अनुसार वेतन दिया जाता था। किन्तु सैनिकों को मुद्राओं में वेतन दिया जाता था और आह्वान तथा पारितोषिकों की घोषणा द्वारा उनकी नियुक्ति होती थी। राज्य-भूमि का

चौथाई भाग "महान् सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को दिया जा चुका था" और दूसरे चौथाई भाग से "सरकारी पूजा का व्यय चलता था" (वाटर्स, i, १७६)। सार्वजनिक कार्यों के लिए आवश्यकता होने पर बलात् श्रम का भी प्रयोग किया जाता, किन्तु ऐसे कर्मचारियों को सदा पारिश्रमिक दिया जाता था (बील, i, ८७)।

चीनी यात्री युआन च्वांग ने बताया है कि "सरकार का प्रशासनिक कार्य ईमानदारी के साथ होता है, अपराधियों की संख्या बहुत कम है, प्रजा के बीच परस्पर अच्छे सम्बन्ध हैं, जो कि पूर्णतः नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वे एक-दूसरे को धोखा नहीं देते, अपने आभारों को निबाहते हैं, अनुचित रूप से किसी वस्तु को प्राप्त नहीं करते और जितना उचित है उससे भी ज़्यादा देने को तैयार रहते हैं।"

किन्तु, दण्ड की व्यवस्था कठोर थी। सम्राट् के साथ विश्वास-घात करने पर आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था। "सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध आचरण के लिए हाथ-पाँव काट डालने अथवा देश-निकाले की सज़ा दी जाती थी। अन्य अपराधों में पूँजी देकर मुक्त हुआ जा सकता था।" यन्त्रणा द्वारा परीक्षा भी प्रचलित थी (वाटर्स, i, १७१-१७२)।

सरकारी शासन काफी उदार 'उदार' था। "सरकारी आवश्यकताएँ काफी कम हैं, परिवार पंजीबद्ध नहीं हैं; बलात् श्रम न होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने परम्परागत व्यवसाय में और अपनी पैतृक सम्पत्ति की देख-भाल में लगा रहता है।" जनता की स्वतन्त्रता अथवा साधनों पर अधिक जोर नहीं दिया जाता था। "कर हल्के थे।" खेती का छठा भाग राजस्व के रूप में लिया जाता था, और नावों द्वारा आने-जाने वाले सामान तथा चुंगी वसूल करने के स्थानों पर हल्का कर लिया जाता था" (वाटर्स, i, १७२-१७६)।

प्रशासन के उन्नत चरित्र का उदाहरण अभिलेख एवं ग्रन्थ-रक्षा विभाग की रचना में मिलता है। अच्छे और बुरे सभी प्रकार के कृत्यों

का "लेखा सरकारी कागज़ात में रखा जाता था" और "सार्वजनिक संकटों तथा शुभ घटनाओं का पूरा विवरण लिखा जाता था" (१५४)। हर्ष के एक अभिलेख (Ep. Ind. i. ७३) और बाण के भी एक लेख में (२२७) 'महाक्षपटलिक' (लिखित प्रश्नों को प्रमाणित करने वाला प्रधान अधिकारी) तथा 'अक्षपटलिक' और 'कराणि' (क्लर्क) नामक पदाधिकारियों का उल्लेख हुआ है।

यद्यपि हर्ष के प्रशासन का पूर्ण विवरण नहीं मिलता, फिर भी युआन च्वांग की यात्रा के विवरण से हम जनता और देश पर प्रशासन के प्रभाव तथा उस समय की भौतिक और नैतिक प्रगति के बारे में जान पाते हैं। हम प्रथम नैतिक प्रगति का ही उल्लेख करेंगे।

चीनी यात्री युआन च्वांग का भारत में आगमन तथा शताब्दियों तक भारत से प्राप्त होने वाले कल्याणकारी ज्ञान की खोज में चीन तथा अन्य देशों से अनेकों छात्रों और विद्वानों का आना ही भारत की नैतिक प्रगति और उसकी महत्ता का सर्वोत्तम प्रमाण है। भारतीय विचार का साम्राज्य भारत की सीमाओं से कहीं आगे तक बढ़ा हुआ था। ब्राह्मणवाद उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपज थी। युआन च्वांग के अनुसार उस समय "ब्राह्मणों के देश" के नाम से ही विदेशी लोग भारत को जानते थे। संस्कृत को उसने सुसंस्कृत वर्गों तथा बौद्धों की भाषा कहा है; सबसे अच्छी संस्कृत मध्यदेश में अर्थात् हर्ष के साम्राज्य में ही बोली और लिखी जाती थी जब कि मध्यदेश के बाहरी प्रदेशों में मूल प्रभव और मानक से भिन्न संस्कृत बोली जाती थी, जो कि प्रयोग द्वारा विभिन्न अपभ्रंश बोलियों में परिणत हो गई थी (वाटर्स, १. १५३)। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त ब्राह्मणवाद की शक्ति और समृद्धि का प्रमाण अनेकों सम्प्रदायों तथा दार्शनिक विचार-धाराओं में मिलता है; जैसे कि भूत (जो अपने शरीर पर भभूत मलते थे), निर्ग्रन्थ, कापालिक, जूटिक (जीवन-चरित्र, पृ० १६१), दुर्गा के आराधक (उपरोक्त, पृ० ८७), मोरपंख पहनने वाले अथवा अपने केश उखाड़ देने वाले संन्यासी (वाटर्स, i, १४८),

दिगम्बर, पाशुपत (उपरोक्त, १२३), सांख्य और वैशेषिक आदि। बाण ने एक अन्य स्थल पर उस समय के निम्नलिखित विभिन्न दार्शनिक मतानुयायियों का उल्लेख किया है: कपिल, कणाद, न्याय और उपनिषद् के अनुयायी, लोकायतिक, (भौतिकवादी), कृष्ण के उपासक अपने केश उखाड़ने वाले साधु (२९४ तथा उसके बाद के पृष्ठ) तथा विधवा भिक्षुणियाँ, पाराशर संन्यासी, जैन साधु और शिव भक्त।

युआन च्वांग ने इन भारतीय संन्यासियों की आन्तरिक महत्ता के साथ उनके बाहरी विशिष्ट चिह्नों का उल्लेख किया है। इन सभी ने संसार का परित्याग कर रखा था और उनमें से कई तो समृद्ध जीवन का त्याग करके अपनी आजीविका को समस्या की भिक्षा तथा भाग्य पर छोड़कर पूर्णतः सत्य की खोज में निकल पड़े थे। "सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही उनके लिए सम्मान था, और निर्धनता में कोई अपमान न था। वे प्रशंसा अथवा निन्दा से प्रभावित न होते थे (जो कि महान् मस्तिष्कों की अन्तिम दुर्बलता पर विजय है)। उनका आदर-सत्कार करने वाले राजा भी उन्हें अपने राज-दरबारों में नहीं बुला पाते थे" (जो कि इस संसार और शरीर से पूर्ण असहयोग का उदाहरण है)। राजा और रंक दोनों ही उनकी नैतिक श्रेष्ठता के कारण उनका आदर करते थे। वे अपने ज्ञान को अपने तक ही सीमित न रखकर समाज में उसका प्रसार करने का प्रयत्न करते थे। युआन च्वांग ने कहा है कि वे उपदेश देने में और उपदेश देने के लिए दूर-दूर तक यात्रा करने में कभी न थकते थे। (वाटर्स, i, १६१)। वे बौद्धिकता के सच्चे शिक्षक थे और उन्होंने देश में शिक्षा व ज्ञान के प्रचार के लिए सवेतन राज-कर्मचारियों से कहीं अधिक भाग किया था। राज्य की सहायता के बिना ही जनता स्वयं अपने शिक्षक ढूँढ निकालती थी।

उस समय बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की तुलना में अवनति के लक्षण दिखा रहा था। महायान और हीनयान में अपने विभाजन के अति-रिक्त वह अठारह विभिन्न भागों में विभक्त हो चुका था और उन

सबका अपने अलग-अलग मठों में अपना अलग-अलग साहित्य उदय हो चुका था। कुछ मठ ज्ञान के केन्द्रों के रूप में बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे, जिनमें युआन च्वांग अपनी यात्रा के दौरान में शिक्षा पाने ठहरा था। इस प्रकार काश्मीर में उसने सूत्रों तथा शास्त्रों के अध्ययन में तथा पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि बनाने में दो वर्ष व्यतीत किये थे। जालन्धर के नगरधन विहार में उसने चन्द्रवर्मा से शिक्षा पाई थी। जयगुप्त ने उसे श्रुघ्न देश के एक मठ में शिक्षा दी थी जो कि ज्ञान-केन्द्र के रूप में इतना विख्यात था कि "अन्य देशों के प्रसिद्ध भिक्षु भी वहाँ अपनी शंकाओं का समाधान करवाने पहुँचते थे। मतिपुर का मठ मित्रसेन नामक विद्वान् के लिए प्रसिद्ध था, जिससे युवान च्वांग ने कई महीनों तक शिक्षा पाई थी। कन्नौज के भद्र-विहार में भी उसने कुछ समय तक वीर्यसेन के निर्देशन में शिक्षा पाई थी। नालन्दा के निकट तिलोशिक मठ उस समय "सब देश-प्रदेशों से आये हुए प्रसिद्ध विद्वानों का मिलन-स्थान था।" गया के महाबोधि मठ में उस समय १००० भिक्षु रहते थे। जो कि अपने विनयाचरण के लिए प्रसिद्ध थे। मुङ्गेर में वह चीनी यात्री तथागत गुप्त और क्षांतिसिंह नामक गुरुओं के निर्देशन में एक वर्ष तक अध्ययन करता रहा था। पुण्यवर्धन के मठ में पूर्वी भारत के छात्र आते थे जब कि कर्ण सुवर्ण का रक्तमृत्तिका नामक मठ अपने श्रेष्ठ भिक्षुओं के लिए विख्यात था। हर्ष के साम्राज्य में प्रायः ये सभी मठ स्थित थे जिन्हें बौद्ध शिक्षा के केन्द्रों के रूप में युआन च्वांग ने अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए चुना था। किन्तु इन सबमें प्रमुख नालन्दा का मठ था, जो कि उस युग के भारतीय ज्ञान का केन्द्र था।

छः मंजिलों का बना हुआ नालन्दा मठ छः राजाओं की देन था, जिसमें कम-से-कम १०,००० छात्रों के रहने का प्रबन्ध था जिनमें से कुछ चीन और मंगोलिया-जैसे बाहरी देशों से आये हुए थे (ताकाकूशू-कृत आईज़िग, पृ० २६ तथा वाटर्स ii, १६५)। "देश के एक राजा"

द्वारा दान में दिये गए १०० गाँवों के राजस्व से छात्रों के निःशुल्क खाने-पीने, रहने, कपड़े, बिस्तरे, दवा और शिक्षा का प्रबन्ध होता था। विश्वविद्यालय देश के विभिन्न सम्प्रदायों और पद्धतियों के परस्पर विचार-विनिमय के लिए था, और इस प्रकार यह केवल उन्नत विद्वानों के लिए ही था। विश्वविद्यालय में प्रवेश करने के लिए कठिन समस्याओं का समाधान करना पड़ता था, जो कि "दस में केवल दो-तीन ही कर पाते थे।" अतः नालन्दा के १०,००० छात्र सभी उन्नत विद्वान् थे, जिनमें से १५१० ऐसे शिक्षक थे जो नित्य १०० व्याख्यान देते थे। "पढ़ने-लिखने और वाद-विवाद में लगे रहने के कारण उन्हें दिन बहुत छोटा मालूम होता था; दिन-रात वे एक-दूसरे को उपदेश देते रहते थे, और छोटे-बड़े एक-दूसरे को परिपक्व बनाने में प्रयत्नशील रहते थे।" नालन्दा के कुछ अति विख्यात शिक्षकों के नाम निम्नलिखित हैं— गुणमति, स्थिरमति, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, चन्द्रपाल, धर्मपाल जो कि शीलभद्र से पहले हुआ था और "जिसे अपने युग का सबसे बड़ा विद्वान् कहा जाता था।" नालन्दा में बौद्ध धर्म की विभिन्न विचार-धाराओं तथा ब्राह्मण-धर्म और अन्य व्यावहारिक विषयों पर भी शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा के विषयों में तीनों वेद, अथर्ववेद, हेतुविद्या (तर्क-शास्त्र), शब्द-विद्या, चिकित्सा-विद्या, सांख्य, न्याय, योग-शास्त्र और कानून, दर्शन, भाषा-विज्ञान, ज्योतिष तथा पाणिनि का व्याकरण-जैसे विषय भी पढ़ाए जाते थे। युआन च्वांग ने पाँच वर्ष तक नालन्दा में शिक्षा प्राप्त की थी और "समस्त बौद्ध-ग्रन्थों तथा ब्राह्मणों के पवित्र ग्रन्थ" पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। (*जीवन-चरित्र*, पृष्ठ ११२, १२१, १२५)। अतः नालन्दा-विश्वविद्यालय अपने विषयों की सार्वव्यापकता, विद्योपार्जन में स्वतन्त्रता के अपने आदर्श, समस्त विचार-धाराओं और सम्प्रदायों से ज्ञान-प्राप्ति तथा अन्ततः उन्नत-शिक्षा के लिए वाद-विवाद की अपनी पद्धति के कारण सचमुच एक विश्वविद्यालय था। युआन च्वांग ने बताया है कि यह पद्धति शिक्षा

में किस प्रकार कार्यान्वित की जाती थी। एक बार अपने गुरु-शीलभद्र से आदेश पाकर युआन च्वांग योग-शास्त्र पर व्याख्यान दे रहा था, जब कि उसी समय विश्वविद्यालय के एक-दूसरे भाग में सिंहरश्मि उसी विषय के विरुद्ध भाषण दे रहा था। युआन च्वांग को उसका मुकाबला करना पड़ा और उसने तुरन्त ही अपने तर्कों द्वारा सिंहरश्मि को शान्त कर दिया। इस पर युआन च्वांग का विरोधी लज्जित होकर गया के बोधि मठ में पहुँचा और वहाँ से पूर्वी भारत के प्रसिद्ध विद्वान् चन्द्रसिंह को अपने साथ लेकर लौटा, पर वह भी युआन च्वांग को परास्त न कर पाया। लोकायत के एक ब्राह्मण दार्शनिक ने चालीस भाष्य लिखकर उन्हें नालन्दा के द्वार पर टँकवा रखा था और साथ में यह चुनौती भी लिख रखी थी—"यदि विश्वविद्यालय का कोई भी व्यक्ति इन सिद्धान्तों का खण्डन कर सकेगा तो उसकी विजय के फलस्वरूप मैं अपना सिर कटवा लूँगा।" युआन च्वांग ने इस चुनौती को स्वीकार करके द्वार पर से उस सूचना को हटवा दिया और कुलपति शीलभद्र तथा समस्त विद्यार्थियों के सम्मुख अपने व्याख्यान द्वारा अपने विरोधी को परास्त कर दिया, जो कि अपना सिर कटवाने से बचकर युआन च्वांग का शिष्य बन गया। और तब उस ब्राह्मण ने कामरूप के राजा कुमार के पास पहुँचकर चीनी यात्री के ज्ञान की चर्चा की जिसके फलस्वरूप राजा ने उसे तुरन्त बुलवा लिया; जैसा कि पहले बताया चुका है।

बाण ने विंध्यवन में स्थित दिवाकरमित्र नामक बौद्ध संत के आश्रम का उल्लेख करते हुए ऐसी ही स्वाधीनता और उदारता का चित्र प्रस्तुत किया है जहाँ कि विभिन्न प्रान्तों के बौद्ध, जैन, ब्राह्मण संन्यासी, वैष्णव, ब्रह्मचारी, कपिल, कणाद, न्याय, लोकायत और उपनिषदों के अनुयायी तथा स्मृति और पुराणों के विद्यार्थी, हवन-यज्ञादि और व्याकरण में निपुण विद्वान् एवं धातुओं के ज्ञाता उसके शिष्य थे और जो कि "सब-के-सब अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार मनन और विचार करते, शंकाएँ प्रस्तुत करते और उनका समाधान करते,' शब्दों की

व्युत्पत्ति प्रकाशित करते और वाद-विवाद तथा व्याख्यान व अध्ययन में लगे रहते थे।" यह है उस युग के भारतीय विश्वविद्यालय का प्रतिरूप चित्र !

इस प्रकार उस युग की विद्या और संस्कृति इन विद्यालयों और मठों में केन्द्रित थी जिनकी संख्या समस्त भारत में चीनी यात्री के अनुसार ५००० थी। और जिनमें बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखाओं के दो लाख से ऊपर छात्र शिक्षा पाते थे। उस भारत में एक बहुत बड़ी संख्या में लोगों द्वारा प्रत्येक भौतिक और लौकिक वस्तु का परित्याग करके आदर्श और अध्यात्मवाद की खोज में निकल जाना उस समय के भारत की एक विशेष दिशा में नैतिक प्रगति का प्रमाण है।

अब हम हर्ष के समय में देश की भौतिक प्रगति पर विचार करेंगे। भौतिक प्रगति का उच्चतम स्तर निश्चय ही हर्ष की राजधानी और उसके प्रासाद में मिलता है। पाटलिपुत्र की जगह कन्नौज अब उत्तरी भारत का प्रमुख नगर बन चुका था "जो पाँच मील तक फैला हुआ था, जिसकी सुरक्षा का सुदृढ़ प्रबन्ध था, जिसमें ऊँचे भवन, सुन्दर उद्यान और सरोवर तथा विदेशों से एकत्रित की गई अपूर्व वस्तुओं का एक संग्रहालय था; उसके नागरिकों का सुसंस्कृत रूप था, वे चमकीले रेशम के वस्त्र पहनते थे, ज्ञान और कलाओं के प्रति उनकी निष्ठा थी; वे स्पष्ट और अर्थपूर्ण भाषण करते थे और वहाँ कई सम्पन्न वर्गों तथा महान् धनवान परिवारों का निवास था" (वाटर्स, i, ३४०)। हर्ष के पिता के समय स्थाण्वीश्वर नामक नगर राजधानी था जिसका और जिसके प्रासाद का बाण ने वर्णन किया है। वह जय-जयकार, दुन्दुभि-घोष और चारणों के गीत तथा जन-कलरव से गुन्जायमान रहता था (१७०)। उसके प्रमुख मार्ग में बाज़ार लगता था (१७१)। राजमहल पर एक चारदीवार थी, जो सदा सफेद पुती रहती थी (१५८)। हम उसकी उन सीढ़ियों के बारे में जान पाते हैं जिन पर से राजकुमार राजमहल से निकलते थे (१७६)। उस महल में चार दरबार थे (१७१),

जो इतने विशाल थे कि उत्सवों पर "हाथियों और घोड़ों के समुद्र" की भाँति लगते थे (१४८)। राजमहल के "फर्श लाल रंग की पच्चीकारी के बने हुए थे" और उन पर शुभ चित्र अंकित थे; मछली, कछुए, घड़ियाल, नारियल, केले तथा पान के वृक्षों की मिट्टी की मूर्तियाँ सुशोभित थीं। उसमें "घड़ियाल के मुँह-जैसे हौज़ बने हुए थे, जिनसे अनेक तरह के आमोद-प्रमोद के सरोवरों में सुगन्धित जल पहुँचता था" (१४८)। राजमहल के उद्यान में शेरों के पिंजड़े भी थे, जिन्हें हर्ष की माता गर्भावस्था में देखा करती थी; तरह-तरह के वन-मानुष, अनोखे पक्षी और सुनहरी जंजीरों से बँधे हुए जलमानुष थे; "कस्तूरी मृग अपनी सुगन्ध उड़ाते फिरते थे, सुरागाय घूमती फिरती; तोते, सारिका और अन्य पक्षी बाँस के बने हुए सुनहरी रंग के अपने पिंजड़ों में कूकते रहते" जो कि आसाम के राजा ने हर्ष को उपहारस्वरूप भेजे थे। हर्ष स्वयं महान् वैभव के बीच रहता था। वह सोने और चाँदी के पात्रों में स्नान करता था। रेशम की सफेद धोती, रत्न-जटित कमरबन्द और कढ़े हुए सितारों की ऊपरी पोशाक पहनता था। गले में मोतियों की माला और अन्य आभूषण पहनकर "वह एक ऐसे रत्नगिरि के मानिन्द लगता था जिसके दोनों ओर रत्न-जटित बाजू हों।"

अब हम उस समय की देश की भौतिक प्रगति का अध्ययन करेंगे। उस समय के नगर ऊँची, चौड़ी, चौकोर दीवारों से घिरे होते थे, जो कि सामान्यतः ईंटों से बनी होती थीं। युआन च्वांग के अनुसार बौद्ध मठों की वास्तु-कला "अत्यन्त प्रशंसनीय" थी। उन चौकोर मठों के चारों कोनों पर चार मीनारें तथा एक-दूसरे से ऊँची तीन दीवारें होती थीं। छतों के निचले तथा बाहरी भाग पर अद्भुत चित्र अंकित होते और दरवाजे, खिड़कियाँ तथा दीवारें तरह-तरह के रंगों में रँगी होती थीं।" इस वास्तु-कला का सर्वोत्तम उदाहरण नालन्दा मठ था। युआन च्वांग ने उसकी कई मंज़िलों, सुसज्जित मीनारों, उसके

ऊपरी कमरों तथा बादलों से ऊपर उठे हुए उसके कँगूरों का वर्णन किया है। मठ की बाह्य विशाल भव्यता की तुलना में अन्दरूनी भाग "अजगर-जैसी बनावटों, रंगीन मोरियों, लाल मोती-जैसे अलंकृत स्तम्भों, सुसज्जित बरामदों और हजारों प्रकार के रंगीन प्रतिबिम्ब देने वाले पत्थरों से जड़ी हुई छतों के कोमल सौन्दर्य से ओत-प्रोत था, और "शिल्प-कला का यह नमूना परिपूर्ण था" (*जीवन-चरित्र*, पृ० २ और वाटर्स, ii, १६५)। व्यक्तिगत आवासों के "अन्दरूनी भाग में भव्यता और बाहरी भाग में सादगी होती थी।" उनमें बड़े-बड़े कमरे और छतदार बरामदे तथा लकड़ी के बने हुए चौरस छतों वाले कमरे होते थे," और यह आवास "बहुत ऊँचे बने होते थे।" गरीबों के घर ईंट, लकड़ी और पर्ण के बने होते थे; उनकी दीवारें चूने से सजी होतीं और उनके फर्श गोबर से लिपे होते तथा उन पर मौसमी फूल बिखरे रहते थे।" बैठने के लिए बुने हुए ऊँचे आसन होते थे, जो कि अपने मालिकों की अभिरुचि तथा साधनों के अनुसार तरह-तरह से बने हुए और सजे रहते थे।

नगरों के निर्माण में भी एक प्रकार की योजना दिखाई देती थी। नगरों की प्रधान सड़कों पर, जो कि युआन च्वांग के अनुसार बहुत चौड़ी नहीं होती थीं, दुकानें बनी रहती थीं, और धर्मशालाएँ अन्य सड़कों पर होती थीं। गंदे अथवा अप्रतिष्ठित व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों को नगर के बाहर रहना पड़ता था, जैसे कि कसाई, जल्लाद, भंगी, मछुए और खेल-तमाशे करने वाले, जिनके मकानों पर विशिष्ट प्रकार के चिह्न बने होते थे।

देश का भौतिक विकास उपभोग की विभिन्न वस्तुओं में भी प्रतिबिम्बित होता था। लोग तरह-तरह के वस्त्र पहनते थे। युआन च्वांग ने कौशेय (रेशमी और सूती), क्षौम (पटसन आदि के बने हुए) कम्बल (ऊनी) और एक अन्य प्रकार के ऊनी वस्त्र भी देखे थे जो कि विशेषतः बहुत अच्छे होते थे। लोगों का पहनावा सादा था। अन्दर

या बाहर पहने जाने वाले कपड़ों में दर्ज़ी के काम की ज़रूरत न होती थी। "पुरुष अपनी कमर पर और बगल के नीचे से एक वस्त्र लपेट लेते थे और अपनी बाँहें तथा कंधे नंगे रहने देते थे। स्त्रियाँ एक लबादा-सा पहनती थीं जो कि दोनों कंधे ढक लेता था और नीचे तक झूलता रहता था।" उत्तरी भारत के कुछ भागों में सर्दियों के दिनों में चुस्त बंडी पहनी जाती थी। आसाम के राजा ने युआन च्वांग को थल-मार्ग द्वारा चीन लौटते समय सर्दी से बचने के लिए एक रोएँदार बिना आस्तीन का लबादा दिया था। राजाओं और सामन्तों द्वारा उन दिनों आभूषणों का बहुत प्रयोग किया जाता था। सिर पर मालाएँ और रत्नजटित मुकुट तथा शरीर पर अँगूठियाँ, बाजूबंद और गलहार पहने जाते थे। धनी व्यापारी केवल बाजूबंदों का ही प्रयोग करते थे।

औद्योगिक जीवन जातियों तथा जातियों से भी अधिक बड़े संगठनों और समुदायों पर आधारित था। ब्राह्मणगण देश के औद्योगिक कार्य-कलापों में कोई भाग न लेते थे, बल्कि आध्यात्मिक ध्येयों को लेकर गैर-आर्थिक प्राणियों की तरह रहते थे। प्रशासन का भार क्षत्रियों तथा अन्तर्देशीय व विदेशीय व्यापार का भार वैश्यों पर था, और कृषि-कार्य केवल शूद्रों द्वारा किया जाता था। इस प्रकार व्यक्ति की जाति ही उसके व्यवसाय को निर्धारित करती थी। युआन च्वांग ने 'मिश्रित जातियों' का उल्लेख किया है, जो कि विभिन्न जातियों के समुदाय थे और जिनकी संख्या देश में कम न थी (वाटर्स, i, १४७, १४८, १६८)। बाण ने भी बताया है कि कुमारी राज्यश्री के विवाह के अवसर पर राजमहल को सजाने के लिए बढ़ई, रंग-रोगन करने वाले तथा मूर्तियाँ बनाने वाले जैसे "निपुण कलाकारों के समूहों को प्रत्येक देश से बुलाया गया था" (१२८)।

भारत की मुद्रा में केवल स्वर्ण और रजत मुद्राएँ ही नहीं होती थीं बल्कि कौड़ी और छोटे मोतियों का भी सिक्कों के रूप में प्रयोग किया जाता था (वाटर्स, i, १७८)।

युआन च्वांग ने उस समय की सामाजिक दशा की भी एक झाँकी दिखाई है। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी पवित्रता तथा सीधी-सादी आदतों के लिए प्रसिद्ध थे। विभिन्न जातियों तथा पिता अथवा माता के सम्बन्धियों के बीच परस्पर विवाह न होते थे। समस्त भारतवासी अपनी शारीरिक शुद्धता के लिए प्रसिद्ध थे। "प्रत्येक भोजन से पूर्व वे मुँह-हाथ धोते थे। बचा हुआ या जूठा भोजन फिर नहीं खाया जाता था और न जूठे बरतनों का प्रयोग किया जाता था। मिट्टी और लकड़ी के बरतन एक बार भोजन के लिए काम में लाए जाने के बाद फेंक दिए जाते थे, पर स्वर्ण, रजत, ताम्र, अथवा लौह-पात्र को माँजकर साफ कर लिया जाता था।" भारतीयों का भोजन भी बहुत शुद्ध होता था। "प्याज़ और लहसुन का बहुत कम प्रयोग होता है और जो लोग इसे खाते हैं उनका बहिष्कार किया जाता है।" बकरे और हरिण के मांस के अतिरिक्त अन्य मांस निषिद्ध खाद्य समझा जाता था। भोजन के रूप में मछली के प्रयोग का विरोध न था, किन्तु साधारण भोजन में दूध, घी, गुड़, मिश्री, रोटी और सरसों के तेल के साथ भुना हुआ अनाज खाया जाता था (१४०, १२१, १२२, १६८ और १७८)।

उच्च वर्गों की स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त करती थीं। राजकुमारी राज्यश्री ने बौद्ध गुरु दिवाकरमित्र से बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त की थी, जिसे कि, बाण के अनुसार, राज्यश्री के पिता ने इसी कार्य के लिए नियुक्त किया था (२८६)। अतः वह इतनी शिक्षित थी कि युआन च्वांग के महायान सिद्धान्तों पर दिये जाने वाले भाषणों को समझ सकती थी, जिन्हें वह "सम्राट् के पीछे बैठकर" सुना करती थी ('जीवन चरित्र', पृ० १७६)। अतः वह परदा नहीं करती थी। इस बात का प्रमाण विंध्य पर्वतों में उसके भ्रमण तथा प्रयाग सम्मेलन में उसकी उपस्थिति से भी मिलता है ('जीवन चरित्र', पृ० १८७)। राज्यश्री के उदाहरण से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि लड़कियों का विवाह कौमार्य प्राप्त करने से पूर्व ही हो जाता था, और जैसा कि युआन च्वांग ने बताया है, उनका

दूसरा विवाह नहीं होता था। उस समय सती की प्रथा प्रचलित थी। जैसा कि बताया जा चुका है राजकुमारी यशोवती अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही सती बन गई थी जब कि राज्यश्री को सती बनते-बनते रोका गया था।

व्यापारिक और राजनीतिक कार्यों के लिए समुद्र-यात्राएँ आम तौर पर हुआ करती थीं। हर्ष ने ६४१ ई० में एक ब्राह्मण को अपना दूत बनाकर चीन भेजा था। चीन लौटते समय युआन च्वांग को हर्ष ने इस प्रकार सम्बोधित किया था: "यदि तुम्हें दक्षिणी समुद्र-पथ पसन्द है तो मैं तुम्हारे साथ राज्य के अनुचर भेजे देता हूँ।" अतः उस समय चीन का समुद्री रास्ता अच्छी तरह जाना हुआ था। चौथी शताब्दी में फाहियान और सातवीं शताब्दी में आई-जिंग ने इसी रास्ते को अपनाया था। दोनों यात्रियों ने इस रास्ते के बीच के विभिन्न स्थानों का उल्लेख किया है। फाहियान ताम्रलिप्ती से लंका चौदह दिन में पहुँचा था, और वहाँ से जावा पहुँचकर २०० यात्रियों वाली एक नाव में वह पचास दिन बाद चीनी तट पर स्थित क्वांगचो नामक स्थान पर उतरने वाला था। आई-जिंग की यात्रा का क्रम इस प्रकार था: (१) चीन से भोज, बीस दिन की जल-यात्रा; (२) श्री-भोज के का-च नामक बन्दरगाह से अचिन तट पर "नागाओं के देश" की यात्रा, लगभग १० दिन; (३) ताम्रलिप्ती, लगभग पन्द्रह दिन की जल-यात्रा। लौटते समय उसकी यात्रा का निम्नलिखित विवरण मिलता है: (१) ताम्रलिप्ती से का-च दो महीने की जल-यात्रा; (२) का-च से भोज, एक महीने की जल-यात्रा; (३) भोज से क्वांग-फू, एक मास की और जल-यात्रा। भारत के पश्चिमी तट, गुजरात से होने वाला उत्प्रवास देश की राजनीतिक अशान्ति के कारण हुआ बताया जाता है। भारत में आने वाले लोगों में शक थे, जो कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय के कारण उत्थापित हो चुके थे, और श्वेत हूण, जिन्हें उत्तर की ओर जाने से सासानियों और तुर्कों ने रोक दिया था (५५०-६००)। तदुपरान्त हूण, गुर्जर, लाट, गन्धार, सिंध

और मालवा के देशों में राजा प्रभाकरवर्धन और सम्राट् हर्ष ने लड़ाइयाँ लड़ीं। अतः गुजरात के बन्दरगाहों से अराजकता के देश से नई बस्तियों की खोज में शरणार्थियों के झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे। इनमें से वे दस्तकार भी थे जिन्होंने जावा के बोरोबुदुर और प्रमबनम नामक प्रसिद्ध स्मारक बनाए हैं, जो कि भारतीय कला के सर्वोच्च नमूने हैं।

हर्ष का वंश-वृक्ष बंसखेरा लेख और सोनपत ताम्र मुद्रा दोनों में इस प्रकार मिलता है :

महाराज नरववर्धन
माता : वज्रिणीदेवी

महाराजा राज्यवर्धन प्रथम
माता : अप्सरोदेवी

महाराज आदित्यवर्धन
माता : महासेनगुप्तादेवी

|

महाराजाधिराज प्रभाकरवर्धन
माता : यशोमती देवी

महाराजाधिराज राज्यवर्धन द्वितीय	महाराजाधिराज हर्ष	राज्यश्री

बाण के अनुसर हर्ष के कृष्ण नामक एक भाई तथा एक पुत्र भी था (१०१)। उसकी एक पुत्री तो थी ही, जिसका विवाह वलभीराज ध्रुवभट्ट से हुआ था।

हर्ष का देहान्त "युंग-हुइ काल के अन्त में हुआ था" ('जीवन-चरित्र' पृ० १५६) अर्थात् लगभग ६५५ ई० में, जिसको ताकाकुशू ने

भी स्वीकार किया है (आई-ज़िग, पृ० १६३)। किन्तु वाटर्स का कथन है (i, ३४७) कि चीनी इतिहास के अनुसार हर्ष की मृत्यु सन् ६४८ ई० में हुई थी जब कि भारत में स्थित चीनी राजदूत ने हर्ष के राज्य-सिंहासन पर अन्याय से बैठे हुए एक राजा को पाया था। वाटर्स ने यह भी बताया है कि युआन च्वांग ने ताइ-जुग को ६४८ ई० में अपने अभिलेख भेंट किये थे, जो कि सम्भवतः हर्ष की मृत्यु के बाद ही लिये गए होंगे।

परिशिष्ट

अशोक की कई घोषणाएँ ऐसी हैं जिनका उल्लेख इस पुस्तक के प्रथम (अंग्रेजी) संस्करण में नहीं किया गया था।

इनमें से पहली आरामाई भाषा में लिखी हुई है और तक्षशिला में पाई गई थी। यह लिपि दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है और फ़ारस के दारा प्रथम जैसे अकेमेनियाई सम्राटों ने अपने अभिलेखों में इस लिपि का प्रयोग किया है। हर्ज़फ़ेल्ड ने इस अभिलेख की कुछ पंक्तियों में "महाराजाधिराज प्रियदर्शी" शब्द पढ़े थे। अपने अभिलेख में अशोक को इस लिपि का प्रयोग अपने साम्राज्य के उन विदेशी नागरिकों की सुविधा के लिए करना पड़ा जिनको उसके ५वें और १३वें शिलालेखों में योन और कम्बोज कहा गया है। अशोक ने तुषास्फ नामक एक यवन (योन) राजा को अपने सौराष्ट्र प्रान्त का राज्यपाल नियुक्त किया था; इस बात का उल्लेख रुद्रदमन प्रथम के एक बाद वाले अभिलेख में मिलता है (१५० ई०)।

रायचूर-मद्रास रेलवे लाइन पर गूटी के स्टेशन के निकट येर्रागुडी नामक गाँव में चौदह शिला-लेख पाये गए हैं और साथ ही अप्रमुख शिला-लेख भी पाया गया है, जिसके एक अंश में कुछ नई बातें भी हैं।

इसमें राजूक, महामात्र तथा राष्ट्रिक नामक पदाधिकारियों का उल्लेख है। उसमें यह भी उपदेश दिया गया है कि "समस्त प्राणियों के प्रति दया का व्यवहार करना चाहिए और सत्य बोलना चाहिए और इन मुख्य धर्म-गुणों का प्रचार करना चाहिए।"

इसमें महामात्रों को यह भी आदेश दिया गया था कि उन्हें निम्न-लिखित विभिन्न वर्गों के लोगों के साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिए: (१) हस्त्यारोहण (हाथियों की सेना), (२) कार्णक [कायस्थ, जो लिपिक या न्यायाधीश (प्राड्विवाक्) होते थे], (३) सारथी (युग्याचर्यानि —रथारोहण), (४) ब्राह्मण अर्थात् शिक्षक।

शिक्षकों को आदेश देते हुए यह कहा गया है कि उन्हें अपने शिष्यों को यह शिक्षा देनी चाहिए कि वे अपने आचार्यों की आज्ञा का पालन करके, अन्तेवासियों के रूप में उनकी पूर्ण रूप से सेवा करके (सर्व अपचायन) और उचित श्रद्धा (यथाचरिण) द्वारा अपने आचरण के परम्परागत नियमों (पुराण प्रकृति तथा ब्रह्मचर्य) का पालन कर सकें। छात्रों को इस बात की भी शिक्षा दी जानी चाहिए (निवेष्याथ) कि वे छात्रावास के इन परम्परागत नियमों का पालन करने में दृढ़ (अरोक) रहें।

इस प्रकार शिक्षकों का यह काम है कि वे छात्रों के बीच राजा का धर्म का अर्थात् सदाचार का सन्देश ले जाने को अपना कार्यक्षेत्र बनायें, उसी प्रकार जैसे कि ग्राम-कल्याण-पदाधिकारियों अर्थात् राष्ट्रिकों का यह काम है कि वे देहातों में यही काम करें।

हॉसपेट तथा गडक के बीच में स्थित कोपबल नामक स्थान में अप्रमुख शिला-लेख के दो और रूपान्तर पाये गए हैं। इनमें से एक गावीमठ पर्वत पर है और दूसरा पालकीगुण्डा पर्वत पर।

इस रूपान्तर में भी पुराने अभिलेखों के शब्द दुहराये गए हैं।

कुर्नूल जिले में येर्रागुडी से थोड़ी ही दूर पर मंदागरी नामक गाँव में अशोक का एक और अप्रमुख शिला-लेख पाया गया है।

एक और अप्रमुख शिला-लेख दतिया और झाँसी के बीच गुजर्रा नामक गाँव में पाया गया है।

इस अभिलेख में उपाधियों सहित अशोक का पूरा नाम इस प्रकार दिया गया है : **देवानंपियस पियदसिनो अशोकराजस।**